जैन तत्व की झाँकी

....

उपाध्याय, अमरमुनि

जैन-धर्म

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्,
पक्ष-पातो न विद्यते ।
नास्त्यन्य-पीडनं किंचिद्,
जैन-धर्मः स उच्यते ॥

❀ ❀ ❀

अनेकान्त की दृष्टि जहाँ है,
और न पक्ष-पात का जाल ।
मैत्री करुण सब जीवों पर,
जैन-धर्म है वह सुविशाल ॥

—उपाध्याय, अमरमुनि

सन्मति-साहित्य-रत्नमाला का १२ वाँ रत्न

जैनत्व की झांकी

लेखक :

उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द्र जी महाराज

प्रकाशक—
सन्मति ज्ञानपीठ,
लोहामण्डी, आगरा

पहली बार १६४६
दूसरी बार १६५२
तीसरी बार १६५७

मूल्य
एक रुपया

मुद्रक—
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस,
मण्डी सईदखाँ, आगरा

अभिनन्दन

श्रीयुत् गुलशनराय जी !

युवक साथी ! तुम जीवन के एक बहुत छोटे से केन्द्र से काफी आगे बढ़े और खूब फूले-फले । तुम्हारी कर्मठ चेतना हर किसी के लिए निराशा में आशा का प्रदीप्त प्रकाश प्रदान करती है ।

यथाप्रसंग सत्साहस के साथ आगे बढ़कर काम करना, किन्तु मौन रहना, यह कोई तुम से सीखे । उड़ाऊ और दिखाऊ कार्य-क्रमों में तुम्हें बिलकुल दिलचस्पी नहीं । तुम्हें दिलचस्पी है—एकमात्र रचनात्मक कार्य-पद्धति में । यही कारण है कि सन्मति ज्ञानपीठ के प्रति प्रारम्भ से ही तुम्हारा सहज-स्नेह तथा सबल सहयोग रहा है ।

तुम नहीं चाहते कि तुम्हारे सम्बन्ध में कुछ लिखा जाय या कहा जाय । किन्तु ज्ञान-पीठ कृतज्ञता के नाते तुम्हारा सादर अभिनन्दन करता है और करता है—तुम्हारे उज्ज्वल भविष्य के लिए मंगल-कामना ।

भवदीय—

विजयसिंह दूगड

मंत्री—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

तीसरा संस्करण

एक दिन 'जैनत्व की झांकी' का उद्घाटन धड़कते दिल से किया गया था। उस समय किसे पता था कि झांकी, इतनी शीघ्रता से समाज में आदर का स्थान प्राप्त कर लेगी ?

उच्च कोटि के समाचार पत्रों ने दिल खोलकर प्रशंसा की। विद्वानों ने मुक्त-कंठ से सराहा। विद्यालयों और गुरुकुलों ने अपने-अपने पाठ्यक्रमों में गौरवपूर्ण स्थान दिया। साधारण पाठक भी जैन-अजैन सभी यथावसर मँगाते रहे और प्रशंसा-पत्र भेजते रहे।

प्रथम संस्करण दो हजार, शीघ्र ही समाप्त। दूसरा संस्करण भी दो हजार, वह भी जल्दी ही खत्म। अब यह तीसरा संस्करण निकल रहा है, जनता की माँग पर तीन हजार।

पाठकों की सेवा में निवेदन नहीं, किन्तु साधिकार अनुरोध है कि झांकी का दर्शन आप सबके लिए शुभ रहेगा, साथ ही मोहक भी। आप स्वयं पढ़ें, मित्रों को पढ़ाएँ, सर्वसाधारण में वितरित करें। किसलिए ? इसलिए कि जैनत्व की झांकी, जैनत्व का निर्मल दर्शन कराती है और सर्वत्र जैन-धर्म के शुद्ध गौरव को सुरक्षित रखती है।

आपका
विजयसिंह दूगड
मंत्री—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

विषय-सूची

तीसरा संस्करण

एक दिन 'जैनत्व की झांकी' का उद्घाटन धड़कते दिल से किया गया था। उस समय किसे पता था कि झांकी, इतनी शीघ्रता से समाज में आदर का स्थान प्राप्त कर लेगी ?

उच्च कोटि के समाचार पत्रों ने दिल खोलकर प्रशंसा की। विद्वानों ने मुक्त-कंठ से सराहा। विद्यालयों और गुरुकुलों ने अपने-अपने पाठ्यक्रमों में गौरवपूर्ण स्थान दिया। साधारण पाठक भी जैन-अजैन सभी यथावसर मँगाते रहे और प्रशंसा-पत्र भेजते रहे।

प्रथम संस्करण दो हजार, शीघ्र ही समाप्त। दूसरा संस्करण भी दो हजार, वह भी जल्दी ही खत्म। अब यह तीसरा संस्करण निकल रहा है, जनता की माँग पर तीन हजार।

पाठकों की सेवा में निवेदन नहीं, किन्तु साधिकार अनुरोध है कि झांकी का दर्शन आप सबके लिए शुभ रहेगा, साथ ही मोहक भी। आप स्वयं पढ़ें, मित्रों को पढ़ाएँ, सर्वसाधारण में वितरित करें। किसलिए ? इसलिए कि जैनत्व की झांकी, जैनत्व का निर्मल दर्शन कराती है और सर्वत्र जैन-धर्म के शुद्ध गौरव को सुरक्षित रखती है।

आपका
विजयसिंह दूगड
मंत्री—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ संख्या

: १ :

देव

हमारा धर्म, जैन-धर्म है। तुम जानते हो, जैन किसे कहते हैं ? हाँ, ठीक है। तुम अभी इतनी दूर तक नहीं जा सके हो। इसलिए तुम न बता सकोगे। लो, मैं ही बता दूँ। परन्तु ज़रा ध्यान से सुनो।

जैन का अर्थ है-'जिन' को मानने वाला। जो जिन को मानता हो, जिन की भक्ति करता हो, जिन की आज्ञा में चलता हो, वह जैन कहलाता है।

तुम प्रश्न कर सकते हो, 'जिन' किसे कहते हैं ? 'जिन' का अर्थ है, जीतने वाला। किसको जीतने वाला ? अपने असली शत्रुओं को जीतने वाला। असली शत्रु कौन हैं। असली शत्रु राग और द्वेष हैं। बाहर के कल्पित शत्रु, इन्हीं के कारण पैदा होते हैं।

'राग' किसे कहते हैं ? मन पसंद चीज पर मोह। 'द्वेष' क्या है ? नापसंद चीज पर नफरत। ये राग और द्वेष दोनों साथ रहते हैं। जिसको राग होता है, उसे किसी के प्रति द्वेष भी होता है। और जिसे द्वेष होता है, उसे किसी के प्रति राग भी होता है।

राग और द्वेष ही असली शत्रु क्यों हैं ? इसलिए शत्रु हैं कि ये हमें अत्यन्त दुःख देते हैं, हमारा नैतिक पतन करते हैं, हमारी आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति नहीं होने देते। राग के कारण माया और लोभ उत्पन्न होते हैं और द्वेष के कारण क्रोध तथा मान उत्पन्न होते हैं। अतः क्रोध, मान (गर्व) माया (कपट), और लोभ को जीतने वाला ही सच्चा 'जिन' है।

'जिन' राग और द्वेष से बिल्कुल रहित होते हैं, इसलिए उनका नाम 'वीतराग' भी है। राग और द्वेष रूपी असली शत्रुओं का हनन अर्थात् नाश करते हैं, इसलिए ये 'अरिहन्त' भी कहलाते हैं, अरि=शत्रु, हन्त=नाश करने वाला।

'जिन' को 'अर्हत्' भी कहते हैं। अर्हत् किसे कहते हैं ? अर्हत् का अर्थ योग्य है। किस बात के योग्य ? पूजा करने के योग्य। जो महापुरुष राग-द्वेष को जीत कर "जिन" हो जाते हैं, वे संसार के पूजने योग्य हो जाते हैं। पूजा का विशुद्ध अर्थ भक्ति है। अतः जो महापुरुष राग-द्वेष को जीतने के कारण संसार के लिए पूजा यानी भक्ति करने के योग्य हो जाते हैं, वे अर्हत् कहलाते हैं। भक्ति का अर्थ फ़ल चढ़ाना आदि नहीं है। भक्ति का अर्थ है बिना किसी स्वार्थ के दिव्य आत्माओं का सम्मान करना, उनके बताये हुए सत्पथ पर चलना।

जिन को 'भगवान्' भी कहते हैं। भगवान् का क्या अर्थ है ? भगवान् का अर्थ है—ज्ञानवाला। राग और द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट करने के बाद केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। केवल ज्ञान के द्वारा जिन भगवान् तीन लोक और तीन काल की सब बातों को सूर्य-प्रकाश के समान स्पष्टरूप से जान लेते हैं।

जिन भगवान् को 'परमात्मा' भी कहा जाता है। परमात्मा का अर्थ है, परम=शुद्ध आत्मा। जो परम=शुद्ध, आत्मा= चेतन हो, वह परमात्मा है। राग-द्वेष को नष्ट करने के बाद ही आत्मा शुद्ध होता है, और परमात्मा बनता है।

जैन धर्म क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी संसारी देवताओं को अपना इष्ट देव नहीं मानता है। भला जो स्वयं काम, क्रोध आदि के विकारों में फँसे पड़े हैं, वे दूसरों को विकार-रहित होने के लिए क्या आदर्श हो सकते हैं ? इसलिए जैन धर्म में सच्चे देव वे ही माने गये हैं, जो राग-द्वेष को जीतने वाले हों, कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले हों, तीन

लोक के पूजनीय हों, केवल ज्ञान वाले हों, परम शुद्ध आत्मा हों।

तुम प्रश्न कर सकते हो, इस प्रकार राग और द्वेष के जीतने वाले कौन जिन भगवान् हुए हैं? एक दो नहीं, अनन्त हो गए हैं। जानकारी के लिये एक दो प्रसिद्ध नाम बताए देता हूँ?

वर्तमान काल-चक्र में सबसे पहले 'जिन' भगवान् ऋषभ देव हुए हैं। आप भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध अयोध्या नगरी के रहने वाले राजा थे। आपने राजा के रूप में न्याय-नीति के साथ प्रजा का पालन किया, और बाद में संसार त्याग कर मुनि बने एवं राग-द्वेष को क्षय करके जिन भगवान् हो गए, मोक्ष में पहुँच गए।

भगवान् नेमिनाथ, भगवान् पार्श्वनाथ, और भगवान् महावीर भी जिन भगवान् थे। ये महापुरुष राग और द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट कर चुके थे, केवल ज्ञान पा चुके थे। अपने-अपने समय में इन्होंने जनता में अहिंसा और सत्य की प्राण-प्रतिष्ठा की, और राग-द्वेष पर विजय पाने के लिए सच्चे आत्म-धर्म का उपदेश देकर आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग प्रशस्त किया।

: २ :

गुरु

"मानव-हृदय के अंधकार को दूर करने वाला कौन होता है ?" क्या तुमने कभी इस प्रश्न पर कुछ सोच-विचार किया है ? मालूम होता है, अभी तक इस तरफ तुम्हारा लक्ष्य नहीं गया है। आओ, आज इस पर कुछ विचार कर लें।

मनुष्य के मन के अज्ञान अंधकार को दूर करने वाला और ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाला गुरु होता है। गुरुदेव के बिना दुनिया के भोग-विलासों में भूले हुए प्राणी को कौन सत्य मार्ग बता सकता है ? ज्ञान की आँखें गुरु ही देता है।

हाँ, तो क्या तुम बता सकते हो, गुरु कौन होते हैं ? सच्चे गुरु का क्या लक्षण है ? जैन धर्म में गुरु किसे कहते हैं ? जैन-धर्म में गुरु का महत्त्व बहुत बड़ा है, परन्तु है वह सच्चे गुरु का। जैन धर्म अंध-श्रद्धालु धर्म नहीं है, जो हर किसी दुनियादार भोग-विलासी आदमी को गुरु मानकर पूजने लगे। वह गुणों की पूजा करता है, शरीर और वेष की नहीं। जैन धर्म आत्मा की पूजा करने वाला है। इसलिए वह गुणों का पुजारी है।

हाँ, तो जैन धर्म में वही त्यागी आत्मा गुरु माना जाता है, जो धन-दौलत का त्यागी हो, मकान-दूकान आदि के प्रपंचों से रहित हो, अहिंसा सत्य आदि का खुद स्वयं आचरण करता हो, और उसी का विना किसी लोभ-लालच के जन-कल्याण की भावना से उपदेश देता हो। सच्चा गुरु वही है, जो जिन भगवान् के द्वारा प्ररूपित शास्त्रों में बताए हुए आत्मा से परमात्मा बनने के आदर्श को सामने रख कर अपने विशुद्ध आचरण तथा ज्ञान से उस आदर्श को प्राप्त करना चाहता हो।

जैन धर्म में त्याग का महत्व है। भोग-विलासों को त्याग कर आध्यात्मिक साधना की आराधना करना ही यहाँ श्रेष्ठ जीवन का लक्षण है। यही कारण है कि जैन साधुओं का तपश्चरण की दृष्टि से बड़ा ही कठोर जीवन होता है। जैन साधु कड़ी से कड़ी सरदी पड़ने पर भी आग नहीं तापते। प्यास के मारे कंठ सूख जाने पर भी सचित्त (कच्चा) पानी नहीं पीते। चाहे जितनी भूख लगी हो, पर, फल आदि कच्ची सब्ज़ी नहीं खाते। आग और हरी सब्जी का स्पर्श भी नहीं करते। बुढ़ापा या बीमारी होने पर भी पैदल ही चलते हैं, कोई भी सवारी काम में नहीं लाते। पैरों में जूते नहीं पहनते। किसी भी शराब आदि नशीली चीज को काम में नहीं लाते। पूर्ण ब्रह्मचर्य पालते हैं, स्त्री को छूते तक नहीं। कौड़ी पैसा आदि कुछ भी धन पास नहीं रखते।

जैन साधुओं के पाँच महाव्रत बतलाए हैं, जो प्रत्येक साधु को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, अवश्य पालन करने होते हैं :—

अहिंसा

मन से, वचन से, शरीर से किसी भी जीव की हिंसा न खुद करना, न दूसरों से कराना, न करने वालों का अनुमोदन=समर्थन करना।

सत्य

मन से, वचन से, शरीर से झूठ न खुद बोलना, न दूसरों से बुलवाना, न बोलने वालों का अनुमोदन करना।

अचौर्य

मन से, वचन से, शरीर से न खुद चोरी करना, न दूसरों से करवाना, न करने वालों का अनुमोदन करना।

ब्रह्मचर्य

मन से, वचन से, शरीर से मैथुन=व्यभिचार न खुद

सेवन करना, न दूसरों से करवाना, न करने वालों का अनुमोदन करना।

अहिंसा

मन से, वचन से, शरीर से परिग्रह=धन न खुद रखना, न दूसरों से रखवाना, न रखने वालों का अनुमोदन करना।

जैन साधु का जीवन तप और त्याग का इतना कठोर जीवन है कि आज उसकी सानी का दूसरा कोई साधु नहीं मिलेगा। यही कारण है कि जैन साधु संख्या में बहुत थोड़े हैं, जब कि दूसरे साधुओं की देश में भरमार है। आज छप्पन लाख साधु नाम-धारियों की फौज भारतवर्ष के लिए भार बन चुकी है। अतः गुरु हर किसी को नहीं बनाना चाहिए। कहा है—'गुरु कीजे जान कर, पानी पीजे छान कर।"

: ३ :

धर्म

तुम्हारा कौन-सा धर्म है ? जैन धर्म। धर्म का क्या अर्थ है ? जो दुःख से, दुर्गति से, पापाचार से, पतन से बचाकर आत्मा को ऊँचा उठाने वाला है, धारण करने वाला है, वह धर्म है।

सच्चा धर्म कौन होता है ? जिससे किसी को दुःख न पहुँचे, ऐसा जो भी अच्छा विचार और अच्छा आचार है, वही सच्चा धर्म है। क्या जैन धर्म भी सच्चा धर्म है ? हाँ, वह अच्छे विचार और अच्छे आचार वाला धर्म है, इसलिए सच्चा धर्म है।

जैन धर्म का क्या अर्थ है ? जिन भगवान् का कहा हुआ धर्म, वह जैन-धर्म। जिन भगवान् कौन ? जो राग-द्वेष को जीत कर पूर्ण पवित्र और निर्मल आत्मा हो गए हैं, वे जिन भगवान् हैं, श्री महावीर, पार्श्वनाथ आदि।

जैन धर्म के क्या दूसरे भी कुछ नाम हैं ? हाँ, दया धर्म, स्याद्वाद धर्म, आर्हत धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म आदि। जैन धर्म में दया का बड़ा महत्व है, इसलिए वह दया धर्म है। स्याद्वाद का अर्थ पक्षपात रहितता है, इसलिए पक्षपात-रहित समभाव का समर्थन करने से जैन धर्म स्याद्वाद धर्म है। 'अर्हत्' जिन भगवान को कहते हैं, इसलिए उनका बताया हुआ धर्म, आर्हत धर्म है। निर्ग्रन्थ का अर्थ परिग्रह-रहित होता है। जैन धर्म परिग्रह का अर्थात् धन-संपत्ति के संग्रह का त्याग बतलाता है, इसलिए वह निर्ग्रन्थ धर्म है।

जैन धर्म कबसे चला ? जैन धर्म नया नहीं चला है, वह अनादि है। दया ही तो जैन धर्म है। और संसार में जिस प्रकार दुःख अनादि है, उसी प्रकार जीवों को दुःख से बचाने वाली दया भी अनादि है। अनादि दया का मार्ग ही जैन धर्म कहलाता है।

'जिन भगवान् का कहा हुआ धर्म ही तो जैन धर्म है, इस

लिए अनादि कैसे हुआ ? जिन भगवान् कोई एक नहीं हुआ है। पूर्वकाल में जिन भगवान् अर्थात् तीर्थंकर अनन्त हो गए हैं, और भविष्य में भी अनन्त होते रहेंगे, अतः जैन-धर्म अनादि-काल से चला आता है, समय-समय पर होने वाले जिन भगवान् उसे अधिकाधिक प्रकाशित करते हैं, देश-काल की परिस्थिति के अनुसार उसकी नवीन पद्धति से पुनः स्थापना करते हैं। जिन भगवान् जैन-धर्म के चलाने वाले नहीं, वरन् उसका समय-समय पर सुधार करने वाले उद्धारक हैं।

सच्चा जैन किसे कहते हैं ? धर्म का मूल दया है, अस्तु जो जीव-मात्र को अपने समान समझकर उनकी हिंसा से बचता है, प्राणी मात्र के लिए दया भाव रखता है, वह सच्चा जैन है।

जैन धर्म का कौन पालन कर सकता है। जैन धर्म का कोई भी भव्य प्राणी पालन कर सकता है। जैन धर्म में जाति और देश का बन्धन नहीं है। किसी भी जाति का और किसी भी देश का मनुष्य जैन धर्म का पालन कर सकता है। हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, ब्राह्मण हो, चाण्डाल हो, कोई भी क्यों न हो, जो जैन धर्म का पालन करे, वह जैन है।

जैन धर्म का सिद्धान्त बहुत गंभीर है। अतः उसका पूरा परिचय तो जैन धर्म के प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से ही हो सकता है। हाँ, संक्षेप में जैन धर्म के मोटे-मोटे सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

१. जगत अनादि है।
२. आत्मा अमर है।
३. आत्मा अनन्त हैं।
४. आत्मा ही परमात्मा होता है
५. आत्मा ही कर्म बाँधता है।
६. आत्मा ही कर्म तोड़ता है।
७. कर्म ही संसार है।
८. कर्म का क्षय ही मुक्ति है।
९. कर्म खुद जड़ हैं।
१०. अशुद्ध भावों से कर्म बँधते हैं
११. शुद्ध भावों से कर्म टूटते हैं।
१२. स्वर्ग, नरक और मोक्ष हैं।
१३. पुण्य,पाप हैं।
१४. जात-पांत कोई नहीं।
१५. शुद्ध आचरण ही श्रेष्ठ हैं।
१६. अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है

:४:

तीन रत्न

तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

'तीर्थ' तैरने के साधन को कहते हैं। अस्तु, जो संसार-सागर से तैरने के साधनों का उपदेश करता है, तैरने के साधनों का प्रचार करता है, वह 'तीर्थंकर' है। भगवान् महावीर आदि जिन भगवान् तीर्थंकर कहलाते हैं।

तैरने के क्या साधन हैं ?

तैरने के साधन तीन हैं—(१) सम्यग् दर्शन, (२) सम्यग् ज्ञान, (३) और सम्यक् चारित्र।

सम्यग् दर्शन किसे कहते हैं ?

'देव' अरिहन्त भगवान्, 'गुरु निर्ग्रन्थ' जैन साधु, और 'धर्म' अहिंसा सत्य आदि जैन धर्म—इन तीनों की सच्ची श्रद्धा का नाम ही सम्यग् दर्शन है।

सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

सम्यग् दर्शन का ही दूसरा नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का अर्थ, खरापन है। विवेक पूर्वक जाँच-पड़ताल करके सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म को मानना ही सम्यक्त्व है। जो इस प्रकार के सम्यक्त्व को धारण करे, वह साधक सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

सम्यग् ज्ञान किसे कहते हैं ?

वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानना, सच्चे रूप से समझना सम्यग् ज्ञान है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, वंध और मोक्ष इन नौ तत्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान करना, सम्यग् ज्ञान है। सम्यग् ज्ञान पूर्ण रूप से अरि-

हन्त-दशा में प्राप्त होता है। जब आत्मा राग-द्वेष का क्षय कर केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब वह पूर्ण सम्यग् ज्ञानी हो जाता है।

सम्यक् चरित्र किसे कहते हैं ?

सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के अनुसार यथार्थ रूप से अहिंसा सत्य आदि सदाचार का पालन करना ही सम्यक् चारित्र है। गृहस्थ का सम्यक् चारित्र अधूरा होता है, और साधु का सम्यक् चारित्र पूर्ण होता है। साधु के सम्यक् चारित्र की पूर्णता भी केवल ज्ञान होने के बाद मोक्ष में जाने से कुछ समय पहले ही होती है। आत्मा की पूर्ण निष्कंप अर्थात् अचंचल अवस्था का नाम ही योग-निरोधन रूप पूर्ण चारित्र है, और वह इसी समय प्राप्त होता है। सम्यक् चारित्र के पूर्ण होते ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पहले सम्यग् दर्शन होता है। सम्यग् दर्शन के होते ही सम्यग् ज्ञान हो जाता है। और इसके बाद में सम्यक् चारित्र होता है। सम्यग् दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा के बिना ज्ञान, सम्यग् ज्ञान नहीं होता, अज्ञान ही रहता है। और सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् ज्ञान के बिना चारित्र, सम्यक् चारित्र नहीं होता, सदाचार नहीं होता, अनाचार ही रहता है।

जैनधर्म में उक्त सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को रत्न कहते हैं। वस्तुतः आत्मा का यही अन्तरंग धन है। इस अन्तरङ्ग धन के द्वारा ही आत्मा का सच्चा आनन्द प्राप्त हो सकता है। यह जैन धर्म का रत्नत्रय सदाकाल जयवन्त रहे।

: ५ :

भगवान् ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव कब हुए ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें मानव-सभ्यता के आदिकाल में जाना होगा । वह आदिकाल, जब न गाँव बसे थे और न नगर, न खेती-बाड़ी का धंधा था और न दूकानदारी, न कोई कला थी और न कोई उद्योग, सब लोग वृक्षों के नीचे रहते थे, और वन-फल खाकर जीवन-यापन करते थे । मानव-जीवन का कोई महान् उद्देश्य, तब की जनता के सामने नहीं था । जीवन सुखमय था, किन्तु संघर्ष-शून्य । जैन-परिभाषा में यह काल युगलियों का काल था; वर्तमान अवसर्पिणी काल-चक्र का तीसरा सुषम-दुःषमा आरक समाप्त होने को था ।

भगवान् ऋषभदेव, इसी युग के जन-नायक अन्तिम कुलकर श्री नाभिराजा के सुपुत्र थे । आपकी माता का नाम मरुदेवी था । भगवान् ऋषभदेव का बाल्यकाल इसी यौगलिक सभ्यता में गुजरा ।

काल-चक्र बदल रहा था । प्रकृति का वैभव क्षीण होने लगा; युगलियों के एकमात्र जीवनाधार वृक्ष कम होने लगे, और जो वृक्ष थे, वे भी फूल-फल कम देने लगे । इधर उपभोग करने वाली जन-संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी । जीवनोपयोगी साधन कम हों और उनका उपभोग करने वाले अधिक हों, तब बताइए, क्या हुआ करता है ? संघर्ष, द्वन्द्व, लड़ाई-झगड़ा । शान्त यौगलिक जनता में संग्रह-बुद्धि पैदा होगई, भविष्य की चिन्ता ने निःस्पृहता एवं उदारता कम करदी । और इसके फलस्वरूप आपस में वैर-विरोध, घृणा द्वेष बढ़ने लगा । यह निष्क्रिय भोग-भूमि से सक्रिय कर्म-भूमि का आरम्भ काल था ।

समय को परखने वाले श्री नाभिराजा ने अब जन-नेतृत्व का भार अपने सुयोग्य पुत्र ऋषभ को सौंप दिया। बड़ा कठिन समय था। मानव जाति का भाग्य आशा और निराशा के बीच झूल रहा था। उस समय मानव जाति को एक सुयोग्य कर्मठ नेता की आवश्यकता थी, और वह श्री ऋषभदेव के रूप में उसे मिल गया।

भगवान् ऋषभदेव ने जनता का नेतृत्व बड़ी कुशलता और योग्यता से किया। उनके हृदय में मानव जाति के प्रति अपार करुणा उमड़ रही थी। मानव जाति को विनाश के भयंकर गर्त से बचाने के लिए, उन्होंने दिन-रात एक कर दिया। भगवान् ने जीवनोपयोगी साधनों के उत्पादन और संरक्षण का सब प्रकार से क्रियात्मक उपदेश दिया। वृक्षों को सींचने की, नये वृक्ष लगाने की, अन्न बोने की, अन्न पकाने की, व्यापार करने की, पात्र बनाने की, वस्त्र बनाने की, रोग-चिकित्सा की, सन्तान के पालन-पोषण आदि की सब पद्धतियाँ बतलाईं। गाँव कैसे बसाने, नगरों का निर्माण कैसे करना, गरमी-सरदी और वर्षा से बचने के लिए घर कैसे बनाने—यह सब कार्य भी जनता को सिखा दिए गए। भारतवर्ष की सर्व-प्रथम नगरी, भगवान् ऋषभ देव के तत्त्वावधान में बनी और उसका नाम विनीता रखा गया; जो आगे चल कर अयोध्या के नाम से प्रसिद्ध हुई। भगवान् ने मनुष्यों को निःसहाय, प्रकृति मुखापेक्षी न रख कर उसे पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाया और प्रकृति को अपने नियंत्रण में कर उससे मन-चाहा काम लेना सिखाया। प्रकृति पर अधिकार पाने की ओर मनुष्य की यह सर्वप्रथम विजय-यात्रा भगवान् ऋषभ देव के नेतृत्व में प्रारम्भ हुई, इसलिए जैन इतिहासकारों ने भगवान् ऋषभदेव जी का दूसरा गुण-सम्पन्न नाम आदिनाथ बताया है।

भगवान् ऋषभदेव पूर्ण युवा हो चुके थे और बड़ी योग्यता से जनता का नेतृत्व कर रहे थे। गृहस्थ-धर्म का पूर्ण

आदर्श स्थापित करने के लिए अब विवाह का प्रसंग आया। मैं बता चुका हूँ कि युगलियों के युग में मानव-जीवन की कोई खास मर्यादा न थी। वह युग, सभ्यता की दृष्टि से एक प्रकार से अविकसित युग था। अस्तु, उस समय विवाह-संस्कार की प्रथा भी प्रचलित न थी। भगवान् ऋषभ देव ने कर्मभूमि युग के आदर्श के लिए और पारिवारिक जीवन को पूर्ण रूप से व्यवस्थित करने के लिए विवाह प्रथा को प्रचलित करना उचित समझा। अतएव श्री नाभिराजा और देवराज इन्द्र के परामर्श से भगवान् का विवाह सुमंगला और सुनंदा नाम की कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ। भारतवर्ष के इतिहास में यह प्रथम विवाह था। भगवान् के विवाह का आदर्श जनता में भी फैला और समस्त मानवजाति सुगठित परिवारों के रूप में फूलने-फलने लगी।

सुमंगला के परम प्रतापी पुत्र भरत हुए। ये बड़े ही प्रतिभाशाली सुयोग्य शासक थे। आगे चलकर इन्होंने अपने अप्रतिम शौर्य से भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर अपनी विजय पताका फहराई और इस वर्तमान अवसर्पिणीकाल के प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए।

दूसरी रानी सुनंदा के पुत्र बाहुबली हुए। बाहुबली अपने युग के माने हुए शूरवीर योद्धा थे। इनका शारीरिक बल, उस समय अद्वितीय समझा जाता था। ये बड़े ही स्वतन्त्र प्रकृति के युवक थे। जब महाराजा भरत चक्रवर्ती हुए तो उन्होंने बाहुबली को भी अपने करदत्त राजा के रूप में अधीन रहने के लिये बाध्य किया, परन्तु भला ये कब मानने वाले थे। बाहुबली भरत को बड़े भाई के रूप में तो आदर दे सकते थे; परन्तु शासक के रूप में आदर देना उनकी स्वतन्त्र प्रकृति के लिए सर्वथा असम्भव था। अन्त में दोनों का परस्पर युद्ध हुआ। बाहुबली ने चक्रवर्ती को द्वन्द्व युद्ध में पछाड़ कर नीचा दिखा दिया, किन्तु उन्हें तत्काल ही वैराग्य हो आया और

समय को परखने वाले श्री नाभिराजा ने अब जन-नेतृत्व का भार अपने सुयोग्य पुत्र ऋषभ को सौंप दिया। बड़ा कठिन समय था। मानव जाति का भाग्य आशा और निराशा के बीच झूल रहा था। उस समय मानव जाति को एक सुयोग्य कर्मठ नेता की आवश्यकता थी, और वह श्री ऋषभदेव के रूप में उसे मिल गया।

भगवान् ऋषभदेव ने जनता का नेतृत्व बड़ी कुशलता और योग्यता से किया। उनके हृदय में मानव जाति के प्रति अपार करुणा उमड़ रही थी। मानव जाति को विनाश के भयंकर गर्त से बचाने के लिए, उन्होंने दिन-रात एक कर दिया। भगवान् ने जीवनोपयोगी साधनों के उत्पादन और संरक्षण का सब प्रकार से क्रियात्मक उपदेश दिया। वृक्षों को सींचने की, नये वृक्ष लगाने की, अन्न बोने की, अन्न पकाने की, व्यापार करने की, पात्र बनाने की, वस्त्र बनाने की, रोग-चिकित्सा की, सन्तान के पालन-पोषण आदि की सब पद्धतियाँ बतलाईं। गाँव कैसे बसाने, नगरों का निर्माण कैसे करना, गरमी-सरदी और वर्षा से बचने के लिए घर कैसे बनाने—यह सब कार्य भी जनता को सिखा दिए गए। भारतवर्ष की सर्व-प्रथम नगरी, भगवान् ऋषभ देव के तत्त्वावधान में बनी और उसका नाम विनीता रखा गया; जो आगे चल कर अयोध्या के नाम से प्रसिद्ध हुई। भगवान् ने मनुष्यों को निःसहाय, प्रकृति मुखापेक्षी न रख कर उसे पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाया और प्रकृति को अपने नियंत्रण में कर उससे मन-चाहा काम लेना सिखाया। प्रकृति पर अधिकार पाने की ओर मनुष्य की यह सर्वप्रथम विजय-यात्रा भगवान् ऋषभ देव के नेतृत्व में प्रारम्भ हुई, इसलिए जैन इतिहासकारों ने भगवान् ऋषभदेव जी का दूसरा गुण-सम्पन्न नाम आदिनाथ बताया है।

भगवान् ऋषभदेव पूर्ण युवा हो चुके थे और बड़ी योग्यता से जनता का नेतृत्व कर रहे थे। गृहस्थ-धर्म का पूर्ण

आदर्श स्थापित करने के लिए अब विवाह का प्रसंग आया। मैं बता चुका हूँ कि युगलियों के युग में मानव-जीवन की कोई खास मर्यादा न थी। वह युग, सभ्यता की दृष्टि से एक प्रकार से अविकसित युग था। अस्तु, उस समय विवाह-संस्कार की प्रथा भी प्रचलित न थी। भगवान् ऋषभ देव ने कर्मभूमि युग के आदर्श के लिए और पारिवारिक जीवन को पूर्ण रूप से व्यवस्थित करने के लिए विवाह प्रथा को प्रचलित करना उचित समझा। अतएव श्री नाभिराजा और देवराज इन्द्र के परामर्श से भगवान् का विवाह सुमंगला और सुनंदा नाम की कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ। भारतवर्ष के इतिहास में यह प्रथम विवाह था। भगवान् के विवाह का आदर्श जनता में भी फैला और समस्त मानवजाति सुगठित परिवारों के रूप में फूलने-फलने लगी।

सुमंगला के परम प्रतापी पुत्र भरत हुए। ये बड़े ही प्रतिभाशाली सुयोग्य शासक थे। आगे चलकर इन्होंने अपने अप्रतिम शौर्य से भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर अपनी विजय पताका फहराई और इस वर्तमान अवसर्पिणीकाल के प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए।

दूसरी रानी सुनंदा के पुत्र बाहुबली हुए। बाहुबली अपने युग के माने हुए शूरवीर योद्धा थे। इनका शारीरिक बल, उस समय अद्वितीय समझा जाता था। ये बड़े ही स्वतन्त्र प्रकृति के युवक थे। जब महाराजा भरत चक्रवर्ती हुए तो उन्होंने बाहुबली को भी अपने करदत्त राजा के रूप में अधीन रहने के लिये बाध्य किया, परन्तु भला ये कब मानने वाले थे। बाहुबली भरत को बड़े भाई के रूप में तो आदर दे सकते थे; परन्तु शासक के रूप में आदर देना उनकी स्वतन्त्र प्रकृति के लिए सर्वथा असम्भव था। अन्त में दोनों का परस्पर युद्ध हुआ। बाहुबली ने चक्रवर्ती को द्वन्द्व युद्ध में पछाड़ कर नीचा दिखा दिया, किन्तु उन्हें तत्काल ही वैराग्य हो आया और

अशेष परिजन, राज्य, कोष तथा प्रभुत्व का परित्याग कर जैन मुनि बन गए। इस घटना से बाहुबलि जी की स्वतन्त्रता, निःस्पृहता, आत्म-गौरव, वीरता और धार्मिकता का भली-भाँति पता लग सकता है।

हाँ, तो हम भगवान् ऋषभदेव जी के परिवार की बात कह रहे हैं। भरत और बाहुबली के अलावा अट्ठाणवें पुत्र और भी थे। वे सब के सब बहुत सरल और सन्तोषी थे। भगवान् की दो सुपुत्रियाँ भी थी—ब्राह्मी और सुन्दरी। ब्राह्मी सुमंगला की पुत्री थी तो सुन्दरी सुनन्दा की। दोनों वहनों का आपस में प्रेम, जैन इतिहास में बड़े गौरव की दृष्टि से अंकित किया गया है।

ब्राह्मी और सुन्दरी बहुत ही बुद्धिमती चतुर कन्याएँ थीं। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी दोनों पुत्रियों को बहुत ऊँचा शिक्षण दिया। ब्राह्मी ने लिपि अर्थात् अक्षर ज्ञान, व्याकरण, छन्द, न्याय, काव्य, अलंकार आदि में विशेष पाण्डित्य प्राप्त किया; और सुन्दरी ने गणित विद्या में असाधारण चमत्कार दिखाया। भगवान् ने सर्वप्रथम पुत्रियों को शिक्षा दी थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे स्त्री-शिक्षा को कितना आवश्यक और प्रधान समझते थे। पुत्र और पुत्रियों में आजकल का-सा भेद, उन्हें सर्वथा अमान्य था। वे दोनों पर एक जैसा ही प्रेम रखते थे।

भगवान् केवल अक्षर-शिक्षण के ही पक्षपाती नहीं थे, वे मानवजीवन के उपभोग में आने वाली कलाओं के शिक्षण को भी बहुत अधिक महत्व देते थे। उनके विचारों में गृहस्थ जीवन के श्रेष्ठत्व की परिभाषा कला और उद्योग ही थे। अतएव उन्होंने स्त्रियों को चौंसठ कलाओं और पुरुषों को बहत्तर कलाओं का भिन्न-भिन्न रूप से शिक्षण दिया। भगवान् ऋषभदेव, इस प्रकार आदि युग के सर्वप्रथम शिक्षण-

शास्त्री थे, जिन्होंने स्त्री और पुरुष दोनों के लिए शिक्षा में कला और उद्योग का अद्भुत संमिश्रण किया।

भगवान् ने, भारतीय प्रजा का संगठन सुव्यवस्थित रूप से चलता रहे, इस उद्देश्य से मानव जाति को तीन भागों में विभक्त किया—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जो लोग अधिक शूरवीर थे, शस्त्र चलाने में कुशल थे, संकट काल में प्रजा की रक्षा कर सकते थे, अपराधियों को दंड द्वारा शिक्षण देकर कुशल शासक वन सकते थे, उन्हें क्षत्रिय पद दिया गया। जो व्यापार में, व्यवसाय में, कृषि में और पशु-पालन आदि में निपुण थे, वे वैश्य कहलाए। जिन्होंने सेवा-वृत्ति स्वीकार की, उनकी 'शूद्र' संज्ञा हुई। चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना, भगवान् के सुपुत्र महाराजा भरत ने, अपने चक्रवर्ती काल में की। जो लोग अपना जीवन ज्ञानाभ्यास में लगाते थे, प्रजा को शिक्षा दे सकते थे, समय पर सन्मार्ग का उपदेश करते थे, वे ब्राह्मण कहलाए। भगवान् ऋषभदेव जी ने वर्णों की स्थापना में कर्म की महत्ता को स्थान दिया था, जन्म से जाति को नहीं। आगे चलकर वैदिक-धर्म का महत्त्व बढ़ा तो कर्मणा वर्ण के स्थान में जन्मना वर्ण के सिद्धान्त को प्रतिष्ठा मिल गई। आज के ये जाति-गत ऊँच-नीच के भेद उसी वैदिक युग की देन हैं। यौगलिक सभ्यता में तो जातिवाद का नाम तक भी नहीं था। उस समय मनुष्य, केवल मनुष्य था, और कुछ नहीं।

भगवान् का हृदय प्रारम्भ से ही वैराग्य-रस से परिप्लावित था। परन्तु जन-कल्याण की भावना से वे गृहस्थ दशा में रह रहे थे और मानव समाज को सुव्यवस्थित बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। अब ज्यों ही मानव जाति व्यवस्थित रूप से सभ्यता के ढाँचे में ढलकर उन्नति-पथ पर अग्रसर होने लगी, तो प्रजा के शासन का भार भरत और बाहुबलि आदि सुपुत्रों को देकर स्वयं ने मुनि-दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा

लेने के बाद भगवान्, एकान्त शून्य वनों में ध्यान लगाकर खड़े रहते थे। उन दिनों भगवान् ने अखण्ड मौन रखा हुआ था। किसी से कुछ भी बोलते-चालते न थे। साधना-काल में वैराग्य का रस-प्रवाह तीव्र वेग से प्रवाहित था। और तो क्या शरीर-रक्षा के हेतु अन्न-जल भी नहीं ग्रहण करते थे।

भगवान् के साथ चार हजार अन्य पुरुषों ने भी दीक्षा ली थी। ये सब लोग भी प्रतिष्ठित जननायक थे, और भगवान् से अत्यधिक घनिष्ठ प्रेम रखते थे। ये लोग किसी गम्भीर चिन्तन के बाद आत्म-निरीक्षण की दृष्टि से तो मुनि बने नहीं थे; भगवान् के प्रेम के कारण ही असह्य विरह से कातर होकर उनके पीछे चल दिए थे। अतएव मुनि-दीक्षा में आध्यात्मिक आनन्द इन्हें न मिल सका। भूख-प्यास के कारण घबरा उठे। भगवान् मौन रहते थे, इसलिए इनको पता न चला कि 'क्या करें और क्या न करें ?' मुनि-वृत्ति का मार्ग छोड़कर, अब ये लोग जंगल में कुटिया बनाकर रहने लगे और वन-फल खाकर गुजारा करने लगे। भारतवर्ष में विभिन्न धर्मों का इतिहास, यहीं से प्रारम्भ होता है। भगवान् ऋषभदेव के समय में ही इस प्रकार तीन सौ तिरेसठ मत स्थापित हो चुके थे। धर्म के मुख्यतया दो अङ्ग हैं-तत्त्व-ज्ञान और आचरण। जब मनुष्य की ज्ञान-शक्ति दुर्बल होती है तो तत्त्व ज्ञान में उलट-फेर होता है और इसके फलस्वरूप चैतन्य, जड़, पाप, पुण्य, बन्ध और मोक्ष आदि के सम्बन्धमें एक दूसरे से टकराती हुई विभिन्न विचार-धाराएँ बह निकलती हैं। और जब आचरण शक्ति क्षीण होती है, तो आचार सम्बन्धी नियमों को भोग-बुद्धि से विपरीत रूप दिया जाता है और झूठे तर्कों की आड़ में अपनी दुर्बलता का संरक्षण किया जाता है। धार्मिक मत-भेदों में प्रायः ये ही मुख्य कारण होते हैं। दुर्भाग्य से भगवान् ऋषभ देव के समय में भी मत-विभिन्नता के ये ही दो मुख्य कारण हुए।

भगवान् ऋषभदेव ने बारह महीने तक निरन्तर निराहार रहकर योग-साधना की, भयंकर से भयंकर प्रकृति के उपद्रवों को भी उन्होंने प्रसन्न चित्त से सहन किया। भगवान् की तितिक्षा बहुत उच्च कोटि पर पहुँच गई थी। परन्तु बारह मास व्यतीत होने पर भगवान् ने विचार किया कि मैं तो इस प्रकार निराहार साधना का लम्बा मार्ग अपना कर आत्म-कल्याण कर सकता हूँ। मुझे तो भूख-प्यास के कष्ट किसी भाँति भी विचलित नहीं कर सकते। परन्तु मेरे अनु-करण पर चलने वाले दूसरे साधकों का क्या होगा ? वे तो इस प्रकार लम्बा तपश्चरण नहीं कर सकते। बिना आहार-यात्रा के साधारण औदारिक शरीर टिक भी नहीं सकता। बेचारे चार हजार साधक किस प्रकार पथ-भ्रष्ट हो गए ? आने वाले साधकों को मार्ग-प्रदर्शन के हेतु मुझे भी आहार लेना ही चाहिए। अस्तु, भगवान् ने आहार के लिए नगर में प्रवेश किया। उस समय की जनता साधुओं को आहार देने की विधि नहीं जानती थी। अतः भगवान् को मुनि-वृत्ति के अनुकूल निर्दोष आहार की प्राप्ति न हो सकी। सदोष आहार भगवान् ने नहीं लिया। बहुत से लोग तो भगवान् की सेवा में हाथी घोड़ों की भेंट लाते थे और बहुत से रत्नों के थाल ही भर कर ले आते थे। अन्ततोगत्वा हस्तिनापुर के राज-कुमार श्रेयांस ने, अपने पूर्वजन्म सम्बन्धी जाति स्मरण ज्ञान से जान कर, निर्दोष आहार ईख का रस बहराया। यह संसार-त्यागी मुनियों को आहार देने का पहला दिन था। वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के रूप में यह दिन आज भी उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

भगवान् ऋषभदेव नाना प्रकार से उग्र तपश्चरण करते रहे, आत्म-साधना में लीन रहे। जब आध्यात्मिक दशा की उच्चकोटि पर पहुँचे तो ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मों का

नाश कर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। भगवान् को केवल-ज्ञान वट-वृक्ष के नीचे हुआ था, अतः आज भी भारत में वट-वृक्ष को बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। भगवान् ने केवल-ज्ञान प्राप्त कर धर्म का उपदेश दिया और साधु तथा गृहस्थ दोनों ही मार्गों का कर्तव्य बताया। यह कर्त्तव्य ही जैन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'जिन' का बताया हुआ धर्म=कर्तव्य, जैन धर्म। ऋषभदेव भगवान् ने स्त्री और पुरुष दोनों के जीवन को महत्व देते हुए चतुर्विध संघ की स्थापना की— साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। भगवान् के पहले गण-धर भरत महाराजा के सुपुत्र ऋषभसेन हुए, और सबसे पहली आर्यिकाएँ दोनों पुत्रियाँ ब्राह्मी तथा सुन्दरी हुई।

भगवान् का जन्म चैत्र कृष्णा अष्टमी को हुआ था। और मुनि-दीक्षा भी चैत्र कृष्णा अष्टमी को ही हुई। केवल-ज्ञान, फाल्गुण कृष्णा एकादशी को और निर्वाण, माघ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। आज भी चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन भगवान् ऋषभदेव की जयन्ती मनायी जाती है।

भगवान् ऋषभदेव मानव-जाति के सर्व-प्रथम उद्धारकर्ता थे। भारतीय इतिहास में उनका नाम अजर अमर रहेगा। ऋषभदेव भगवान् केवल जैनधर्म की ही विभूति न थे, प्रत्युत विश्व की विभूति थे। यह भगवान् की महत्ता का ही तो फल है कि वैदिक धर्म ने भी उन्हें अपना अवतार माना है। श्रीमद्भागवत में भगवान् ऋषभदेव की महिमा मुक्त कंठ से वर्णन की गई है। वहाँ लिखा है—'भगवान् ने जो उपदेश दिया था, वह वेदों में वर्णित है।' इस पर से भगवान् के उपदेश की महत्ता और प्राचीनता वेदों से पहले की सिद्ध है।

: ६ :

भगवान् पार्श्व नाथ

भगवान् पार्श्वनाथ वर्तमान काल-चक्र के तेईसवें तीर्थंकर हैं। आपकी प्रख्याति भी जैन समाज में कुछ कम नहीं है। जैन-साहित्य का स्तोत्र-विभाग, अधिकतर आपके ही स्तुति-पाठों से भरा पड़ा है। हजारों स्तोत्र आपके नाम पर वने हुए हैं, जिन्हें लाखों नर-नारी बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ नित्य-पाठ के रूप में पढ़ते हैं। कल्याण-मन्दिर स्तोत्र तो इतना अधिक प्रसिद्ध है कि शायद ही कोई धार्मिक मनोवृत्ति का शिक्षित जैन हो, जो उसे न जानता हो।

मूल आगमों में भी आपकी कीर्ति-गाथा बड़े श्रद्धा-भरे शब्दों में गाई है। भगवती सूत्र में बहुत से स्थलों पर आपका नामोल्लेख मिलता है। और स्वयं भगवान् महावीर ने भी आप को महापुरुषों की कोटि में स्वीकार करते हुए अतीव सम्मान पूर्ण शब्दों में स्मरण किया है।

जैन-संसार ही नहीं, अजैन संसार भी आप से खूब परिचित है। एक प्रकार से अजैन संसार तो एक मात्र आप को ही जैनों का उपास्य देव समझता है। बहुत से अजैनों को स्वयं लेखक ने यह कहते हुए सुना है कि—'ये जैनी हैं, जो पार्श्वनाथ को मानने वाले हैं।' राजपूताना आदि में तो अजैन लोग जैनों को शपथ दिलाते समय भी भगवान् पार्श्वनाथ की शपथ दिलाते हैं। ऐतिहासिक विद्वान् भी श्री पार्श्वनाथ जी के ऐतिहासिकत्व को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। पहले के कुछ विद्वान् जैन-धर्म का प्रारम्भ काल भगवान् महावीर से ही मानते थे, परन्तु अब तो एक स्वर से प्रायः सभी विद्वान्, जैन धर्म का सम्बन्ध आप से जोड़ने लग गए हैं, कुछ तो आप

से भी आगे ऋषभदेव जी तक पहुँच गए हैं। प्रसिद्ध ऐतहासिक पुस्तक 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में तो आप के इतिहास-काल पर खूब अच्छा प्रकाश डाला गया है।

भगवान् पार्श्वनाथ का समय ईसा से करीब ८०० वर्ष पूर्व है। वह युग तापसों का युग था। हजारों तापस आश्रम बनाकर वनों में रहा करते थे, और उग्र शारीरिक क्लेशों द्वारा साधना किया करते थे। कितने ही तपस्वी वृक्षों की शाखाओं में औंधे मुँह लटका करते थे। कितने ही आकंठ जल में खड़े होकर सूर्य की ओर ध्यान लगाया करते थे। कितने ही अपने आप को भूमि में दबाकर समाधि लगाते थे। और कितने ही पंचाग्नि-तप तप कर अपने शरीर को झुलस डालते थे। उक्त अग्नि-तापसों का उस समय काफी प्राबल्य था। भोली जनता इन्हीं विवेक-शून्य क्रिया-काण्डों में धर्म मानती थी, और इस प्रकार देह-दण्ड का बाजार खूब गर्म था।

भगवान् पार्श्वनाथ का संघर्ष अधिकतर इन्हीं तापस सम्प्रदायों के साथ हुआ। आप विवेक-शून्य क्रियाकाण्ड को हेय मानते थे और कहते थे कि "ज्ञानपूर्वक मामूली-सा क्रिया-काण्ड भी जीवन में क्रांति ला सकता है और ज्ञान के बिना उग्र क्रियाकाण्ड करते हुए हजारों वर्ष भी बीत जाएँ, तब भी कुछ नहीं हो सकता। बहुत बार तो विवेक-शून्य तपश्चरण आत्मा को उन्नत बनाने के बजाय अधः पतन की ओर ले घसीटता है और साधक को किसी भी काम का नहीं छोड़ता।"

कमठ, उस समय का एक महान् प्रतिष्ठा-प्राप्त तापस था। सर्वप्रथम आपकी उसी से मुठभेड़ हुई। कमठ ने वाराणसी के बाहर गंगा-तट पर डेरा डाल रखा था, और पंचाग्नि तप के द्वारा हजारों लोगों का श्रद्धा-भाजन बना हुआ था। श्री पार्श्व प्रभु इस समय वाराणसी के युवराज थे। (आपका जन्म वाराणसीनरेश अश्वसेन की धर्मराज्ञी श्री वामा देवी की कुक्षि से

हुआ था) आपने इस ढोंग को जड़ से उखाड़ फेंकने का विचार किया, और गंगा तट पर तपस्वी से धर्म के सम्बन्ध में बड़ी गम्भीर चर्चा करते हुए सत्य का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष रक्खा। तपस्वी की धूनी के एक बड़े लक्कड़ में एक बड़ा विषधर नाग जल रहा था, आपने अपनी सुमधुर वाणी से सद्बोध देकर उसे सद्गति का भागी बनाया। उक्त घटना का जैन समाज में बड़ा भारी महत्व है। श्री हेमचन्द्राचार्य तथा भावदेव आदि प्राचीन विद्वानों ने स्वरचित पार्श्व-चरित्रों में इस सम्बन्ध में अतीव हृदय-ग्राही एवं विवेचनापूर्ण वर्णन किया है। वर्तमान काल-चक्र में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सब में श्री पार्श्व ही ऐसे हैं, जिन्होंने गृहस्थ दशा में भी इस धर्म-चर्चा में सार्वजनिक भाग लेकर सत्य-प्रचार का श्रीगणेश किया।

भगवान् पार्श्वनाथ का साधना-काल बड़ा विलक्षण रहा है। युवावस्था में ही आपने काशी देश के विशाल साम्राज्य को ठुकरा कर मुनि-दीक्षा धारण की, और इतनी सफल तपःसाधना की, जिससे हर कोई सहृदय पाठक सहसा चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकता। आपका हृदय सहन-शीलता से इतना अधिक परिपूर्ण था कि आप भयंकर से भयंकर आपत्तियोंमें भी सर्वथा अचल अकम्प रहे, जरा भी हृदय में ग्लानि का भाव नहीं आने दिया। कमठासुर ने आपको अतीव भीषण कष्ट दिये, परन्तु आप उस पर भी अन्तर्हृदय से दया का शीतल निर्झर ही बहाते रहे। आपके इस उदार समभाव पर आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के प्रारम्भ में क्या ही अच्छा लिखा है—

कमठे धरणेन्द्रे च, स्वोचितं कर्म कुर्वति।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः, श्री पार्श्वनाथः श्रियेस्तु वः॥

अर्थात् 'कमठासुर ने तो आपको महान् कष्ट दिए, और उधर धरणेन्द्र ने आपको उपसर्ग से बचाकर महती सेवा-भक्ति की, परन्तु आपका दोनों ही व्यक्तियों पर एक समान ही सद्भाव था, न कमठ पर द्वेष और न धरणेन्द्र पर अनुराग।'

श्री पार्श्वप्रभु आरम्भ से ही दया, क्षमा एवं शान्ति के अवतार थे। आपकी यह क्षमा धर्म की साधना इसी जन्म से शुरू न हुई थी। जैन लेखक कहते हैं कि आप नौ जन्म से क्षमा का पाठ अपने अन्तस्तल में उतारते आ रहे थे। अपने विरोधी कमठ पर, जो निरन्तर नौ जन्म तक साथ में रह कर कष्ट देता रहा था, जरा भी क्रोध नहीं किया। अस्तु, आपकी यह साधना अन्तिम जन्म में पूर्ण शिखर पर पहुँची और यहाँ कैवल्य प्राप्त कर अपनी साधना का जनता में सर्वत्र प्रचार किया। विवेक-शून्य क्रियाकांडों में उलझी हुई जनता को आपने विवेक-पूर्वक क्रियाकांड के पथ पर चढ़ाया, और संसार में अहिंसा की दुंदुभी फिर से बजादी। श्री पार्श्वनाथ ने क्या किया? इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कह कर सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का लेख उद्धृत किए देता हूँ।

श्री कौशाम्बी जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' में लिखते हैं :—

"परिक्षित के बाद जनमेजय हुए और उन्होंने कुरु देश में महायज्ञ करके वैदिक धर्म का झंडा लहराया। उसी समय काशी देश में पार्श्व एक नवीन संस्कृति की आधार शिला रख रहे थे।"

"श्री पार्श्वनाथ का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना, यह चातुर्याम संवरवाद उनका धर्म था। इसका उन्होंने भारत में प्रचुर

प्रचार किया। इतने प्राचीनकाल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का, यह प्रथम ऐतिहासिक उदाहरण है।"

"श्री पार्श्व मुनि ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह-इन तीन नियमों के साथ अहिंसा का मेल बिठाया। पहले अरण्य में रहने वाले ऋषि मुनियों के आचरण में जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार में स्थान न था। अस्तु, उक्त तीन नियमों के सहयोग से अहिंसा सामाजिक बनी, व्यावहारिक बनी।"

"श्री पार्श्वमुनि ने अपने नये धर्म के प्रसार के लिए संघ बनाया। बौद्ध-साहित्य पर से ऐसा मालूम होता है कि बुद्ध के काल में जो संघ अस्तित्व में थे, उनमें जैन साधु तथा साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।"

: ७ :

भगवान् महावीर

आइए, जरा अपनी स्मृति को पुराने भारत में ले चलें।

कितने पुराने भारत में ?

यही करीब पच्चीस शताब्दी पुराने में।

बहुत अच्छा।

..................अरे रे यह क्या हो रहा है ! लाखों मूक पशुओं की लाशें यज्ञ की बलि-वेदी पर तड़प रही हैं। भोले-भाले मानव-शिशु और पकी आयु के वृद्ध भी देव-पूजा के वहम में मौत के घाट उतारे जा रहे हैं। शूद्र भी तो मनुष्य हैं। इन्हें क्यों मनुष्यता के सर्व सामान्य अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया है ? मातृ-जाति का इतना भयंकर अपमान ! सामाजिक-क्षेत्र में रात-दिन की दासता के सिवा इनके लिये और कोई काम ही नहीं ? प्रत्येक नदी-नाला, प्रत्येक ईंट-पत्थर, प्रत्येक झाड़-झंखाड़ देवता बना हुआ है। और मूर्ख मानव-समाज अपने महान् व्यक्तित्व को भुलाकर इनके आगे दीन-भाव से अपना उन्नत मस्तक रगड़ता फिर रहा है। आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पतन का इतना भयंकर दृश्य ! हृदय काँप रहा है।

जी हाँ, यह ऐसा ही दृश्य है। आप देख नहीं रहे हैं, यह आज से पच्चीस शताब्दी पुराना भारत है और ये सब लोग उस पुराने भारत के निवासी हैं। आज भी इनके तत्कालीन जीवन की झांकी पुराण और वेदों के पृष्ठों पर अंकित है।

क्या इस युग में भारत का कोई उद्धार-कर्ता न हुआ ? क्या उस समय इन धर्मान्ध लोगों को समझाने-बुझाने वाला कोई न मिला ? अन्ध-विश्वास की इस प्रगाढ़ अन्धकार पूर्ण काल-

रात्रि में ज्ञान-सूर्य का उज्ज्वल आलोक फैलाने वाला क्या कोई महापुरुष अवतरित न हुआ ?

अवश्य हुआ ।

कौन ?

भगवान् महावीर ।

यह प्रकृति का अटल नियम है कि जब अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, अधर्म धर्म का बाना पहनकर जनता को भ्रम-बन्धन में बाँध लेता है, तब कोई-न-कोई महापुरुष समाज, राष्ट्र एवं विश्व का उद्धार करने के लिए जन्म लेता ही है । भारतवर्ष की तत्कालीन दयनीय दशा भी किसी महापुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा कर रही थी । अतः भगवान् महावीर की आत्मा ने भारत के उद्धार के लिए मगध-प्रदेशवर्ती वैशाली नगरी (कुण्डन पुर) के राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के यहाँ जन्म ग्रहण किया । भारत के इतिहास में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का वह पवित्र दिन है, जो लाखों वर्षों तक अजर अमर बना रहेगा । भगवान् महावीर के जन्म दिन बनने का सौभाग्य इसी पवित्र दिन को प्राप्त हुआ है ।

महावीर राजकुमार थे । सब प्रकार का सांसारिक सुख-वैभव चारों ओर बिखरा पड़ा था । विवाह हो चुका था । अपने समय की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा धर्म-पत्नी के रूप में प्रेम-पुजारिणी बनी हुई थी । दुःख क्या होता है ? कुछ भी पता न था । यह सब कुछ था । परन्तु महावीर का हृदय फिर भी कुछ अनमना-सा, उदास-सा रहता था । भारत का धार्मिक तथा सामाजिक पतन उन्हें बेचैन किए हुए था । क्रान्ति की प्रचण्ड ज्वाला अन्दर ही अन्दर धधक रही थी । हृदय-मन्थन चलता रहा । दो वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में ही तपस्वियों-जैसी साधना का उग्र क्रियाकाण्ड होता रहा ।

अन्ततोगत्वा तीस वर्ष की भरी जवानी में मार्गशिर कृष्णा दशमी के दिन मगध की विशाल साम्राज्य-लक्ष्मी को ठुकरा कर वे पूर्ण अकिंचन भिक्षु के रूप में निर्जन वनों की ओर चल पड़े।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् महावीर ने भिक्षु होते ही उपदेश की वाग्धारा क्यों न बहाई ? बात यह है कि महावीर आजकल के साधारण सुधारकों जैसी मनोवृत्ति न रखते थे कि जो कुछ मन में आए, झट-पट कह डालो; करने-धरने को कुछ नहीं। उनकी तो यह अटल धारणा थी-"जब तक नेता अपने जीवन को न सुधार ले, अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त न करले, तब तक वह प्रचार क्षेत्र में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।" महावीर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बारह वर्ष तक कठोर तपः साधना करते रहे। मानव समाज से प्रायः अलग-थलग सूने जंगलों में, पर्वतों की गुफाओं में रहकर आत्मा की अनन्त प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगाना ही उन दिनों उनका एकमात्र कार्य था। एक-से-एक मनोमोहक प्रलोभन आँखों के सामने से गुज़रे, एक-से-एक भयङ्कर आपत्तियों ने चारों ओर चक्कर काटा, परन्तु भगवान् हिमालय की भाँति सर्वथा अचल और अडिग रहे। आज जिन घटनाओं के पठन-मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप में जिस जीवन पर से प्रसारित हुई होंगी, वह कितना महान् होगा ? हमारी कल्पना शक्ति कुण्ठित हो जाती है।

अहिंसा और सत्य की पूर्ण साधना के बल से जीवन की समस्त कालिमा धुल चुकी थी, पवित्रता और स्वच्छता की अखिल रेखाएँ प्रस्फुटित हो चुकी थीं, आत्मा की अनन्त ज्ञान ज्योति जगमगा उठी थी, अतः वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भगवान् महावीर केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन का अखण्ड प्रकाश प्राप्त कर तीर्थंकर पद के अधिकारी हुए। जैन धर्म

की मान्यता के अनुसार कोई भी मनुष्य जन्म से भगवान् नहीं होता । भगवत्पद की प्राप्ति के लिए विकट साधनाओं के पथ पर चलना होता है, जीवन के चारों ओर सदाचार के कठोर नियमों का अभेद्य प्राकार खड़ा करना होता है, तब कहीं मनुष्य भगवत्पद का अधिकारी होता है । भगवान् महावीर का जीवन हमारे समक्ष आध्यात्मिक विकास क्रम का एक बहुत बड़ा आदर्श उपस्थित करता है ।

भगवान् महावीर को ज्योंही केवल-ज्योति के दर्शन हुए, वे अपने एकान्त साधनारत जीवन को वन में से हटा कर मानव समाज में ले आए । मानव-समाज में आकर आपने मानव-जगत की दलित मानवता को विकसित करने का प्रबल आन्दोलन चालू किया । तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों के प्रति आपने वह सफल आक्रमण किया कि अन्धविश्वासों के सुदृढ़ दुर्ग ढह-ढह कर भूमिसात् होने लगे । भारत में चारों ओर क्रान्ति का ज्वालामुखी फट पड़ा । दाम्भिकता पर चिर-प्रतिष्ठित धर्मगुरुओं के स्वर्ण-सिंहासन हिल उठे । आपका विरोध भी बड़े जोरों से हुआ । प्राचीनता के पुजारियों ने प्रचलित परम्पराओं की रक्षा के लिए जी-तोड़ प्रयत्न किए, मनमाने आक्षेप भी किए, परन्तु महापुरुष आपत्तियों की शैला श्रृंखला से क्या कभी रुका करते हैं ? वे तो अपने निश्चित ध्येय पर प्रतिपल आगे बढ़ते ही रहते हैं, और अन्त में सफलता के सिंह-द्वार पर पहुँच कर ही विश्राम लेते हैं ।

भगवान् महावीर के आचरण मूलक धर्मोपदेश ने भारत की काया-पलट करदी । वेद-मूलक हिंसक विधि-विधानों में लगे हुए बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी भगवान् के चरणों के पुजारी बन गए । इन्द्रभूति गौतम, जो अपने समय के एक धुरन्धर दार्शनिक, साथ ही साथ क्रियाकाण्डी ब्राह्मण माने जाते थे,

पावापुर में विशाल यज्ञ की आयोजना कर रहे थे। भगवान् की पहली टक्कर इन्हीं के साथ हुई। गौतम पर भगवान् के दिव्य ज्ञान-प्रकाश एवं अखण्ड तपस्तेज का वह विलक्षण प्रभाव पड़ा कि वे सदा के लिए यज्ञ-वाद का पक्ष त्याग कर भगवत्पद-कमलों में दीक्षित हो गये। इनके साथ ही चार हजार चार सौ (४४००) अन्य ब्राह्मण विद्वानों ने भी भगवान् के पास मुनि-दीक्षा धारण की। भगवान् के अहिंसा-धर्म की यह सबसे पहली विजय थी, जिसने भारत की चिर-निद्रित आँखें खोल दीं। उक्त घटना के बाद भगवान् जहाँ भी पधारे, धर्म-पिपासु जनता समुद्र की भाँति भगवान् की ओर उमड़ती चली गई।

भोग-विलास में सर्वदा बेभान रहने वाले धनी नौजवानों पर भी भगवान् के अपूर्व वैराग्य का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं के, सेठ-साहूकारों के सुकुमार-पुत्र भिक्षु का बाना पहने हुए, तप और त्याग की साक्षात् जीती-जागती मूर्ति बने हुए, गाँव-गाँव में अहिंसा-धर्म की दुंदुभी बजाते हुए घूम गए। मगध-सम्राट श्रेणिक की उन महारानियों को, जो कभी पुष्प शैय्या से नीचे पैर तक न रखतीं थीं, जब हम भिक्षुणियों के रूप में घर-घर भिक्षा माँगते हुए, धर्म-शिक्षा देते हुए, कल्पना के चित्र-पट पर लाते हैं, तो हमारा हृदय सहसा हर्ष से गद्-गद् हो उठता है। राजगृही के धन्ना और शालिभद्र जैसे धन-कुबेरों के जीवन-परिवर्तन की कथाएँ कट्टर से कट्टर भोगवादी के हृदय को भी परिवर्तित कर देने वाली हैं।

भगवान् महावीर मातृ-जाति के प्रति भी बड़े उदार विचार रखते थे। उनका कहना था कि 'पुरुषके समान ही स्त्री को भी प्रत्येक धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में बराबर का अधिकार है। स्त्री जाति को हीन एवं पतित समझना

निरी भ्रान्ति है।' अतएव भगवान् ने भिक्षु-संघ के समान ही भिक्षुणियों का भी एक संघ बनाया, जिसकी अधिनेत्री 'चंदन बाला' थी, जो अपने संघ की सब प्रकार की देख-रेख स्वतंत्र रूप से किया करती थी। भगवान् बुद्ध ने भी भिक्षुणी-संघ की स्थापना की थी, परन्तु वह स्वयं नहीं, आनन्द के अत्या-ग्रह से गौतमी पर दया लाकर! उनका अपना विचार इस सम्बन्ध में कुछ और था। भगवान् महावीर के संघ में जहाँ भिक्षुओं की संख्या १४ हज़ार थी, वहाँ भिक्षुणियों की संख्या ३६ हज़ार थी। श्रावकों की संख्या १ लाख ५६ हज़ार थी, तो श्राविकाओं की संख्या ३ लाख कुछ हज़ार थी। स्त्री-जाति के लिए भगवान् के धर्म-प्रवचन में कितना महान् आकर्षण था, इसकी एक निर्णयात्मक कल्पना ऊपर की संख्याओं पर से की जा सकती है।

तत्कालीन शूद्र जातियों को भी भगवान् के द्वारा बड़ा सहारा प्राप्त हुआ। भगवान् जहाँ भी गए, सर्वत्र सर्वप्रथम एक ही सन्देश लेकर गए कि—मनुष्य-जाति एक है, उसमें ज़ात-पाँत की दृष्टि से विभाग की कल्पना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं। ऊँच-नीच के सम्बन्ध में भगवान् के विचार कर्म-मूलक थे, जाति-मूलक नहीं। यह बात नहीं थी कि, भग-वान् आजकल के उपदेशकों के समान मात्र उपदेश देकर ही गये हों। हरिकेशी जैसे चाण्डालों को अपने भिक्षु—संघ में सम्मानपूर्ण अधिकार देकर, उन्होंने जो कुछ कहा, वह करके भी दिखाया। आगम-साहित्य में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जहाँ भगवान् किसी राजा महाराजा अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय के महलों में विराजे हों। हाँ, पोलासपुर में सद्दाल कुम्हार के यहाँ विराजना उनकी पतित-पावनता का वह उज्ज्वल आदर्श है, जो कोटि-कोटि युग तक अजर अमर रह कर संसार को समता और दीन-बन्धुता का पाठ पढ़ाता रहेगा।

भगवान् के जीवन के सम्बन्ध में क्या कुछ कहा जाय ? उनका जीवन एकमुखी नहीं, सर्वतोमुखी था। हम उन्हें किसी एक ही दशा में बढ़ते नहीं पाते, प्रत्युत जिस क्षेत्र में भी देखते हैं, वह सबसे आगे और आगे दिखलाई देते हैं। आगम-साहित्य तथा तत्कालीन अन्य साहित्य पर दृष्टिपात कर जाइए। आप भगवान् महावीर को कहीं विलासी राजाओं को अत्याचार से हटाते पाएँगे तो कहीं दीन-दरिद्र गृहस्थों को पापाचार से बचाते पाएँगे। कहीं भिक्षुओं के लिए वैराग्य का समुद्र बहाते पाएँगे तो कहीं गृहस्थों के लिए नीति-मूलक शिक्षाएँ देते पाएँगे। कहीं प्रौढ़ विद्वानों के साथ गम्भीर तत्त्व-चर्चा करते पाएँगे तो कहीं साधारण जिज्ञासुओं को कथाओं के रूप में साधारण धर्म-प्रवचन सुनाते पाएँगे। कहीं गणधर गौतम जैसे प्रिय शिष्यों पर प्रेम की अमृत वर्षा करते पाएँगे तो कहीं उन्हीं को ग़लती कर देने के अपराध में फटकार बताते पाएँगे। बात यह है कि भगवान् को जहाँ कहीं भी जिस किसी भी रूप में पाते हैं, सर्वथा अलौकिक एवं अद्भुत पाते हैं।

लेख लम्बा हो चुका है, फिर भी मैं कुछ लिख नहीं पाया हूँ। लेख बिखरा हुआ है, सिमटने में नहीं आरहा है। सिमटे भी कैसे ? भगवान् के महान् जीवन की झांकी वर्णमाला के सीमित अक्षरों में नहीं दिखलाई जा सकती। भगवान् महावीर का जीवन न कभी पूरा लिखा गया है और न कभी लिखा जा सकेगा। अनन्त आकाश के गर्भ में असंख्य विहंगम उड़ानें भर चुके हैं, पर आकाश की इयत्ता का पता किसे है ? अतः यह प्रयास मात्र भगवान् के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पण करने का है, जीवन लिखने का-नहीं। जो कुछ श्रद्धा भरे हृदय से लिखा है, वह हमारे पामर जीवन को सुगंधित बनाने के लिए पर्याप्त है।

: ८ :

जैन तीर्थंकर

तीर्थंकर कौन होते हैं ?

'तीर्थंकर' जैन-साहित्य का एक मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कितना पुराना है, इसके लिए इतिहास के फेर में पड़ने की जरूरत नहीं। आजकल का विकसित-से-विकसित इतिहास भी इसका प्रारम्भ काल पा सकने में असमर्थ है। और एक प्रकार से तो यह कहना चाहिए कि यह शब्द उपलब्ध इतिहास सामग्री से है भी बहुत दूर–परे की चीज।

जैन-धर्म के साथ उक्त शब्द का अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों को दो अलग-अलग स्थानों में विभक्त करना, मानो दोनों के वास्तविक स्वरूप को ही विकृत कर देना है। जैनों की देखा-देखी यह शब्द अन्य पन्थों[1] में भी कुछ-कुछ प्राचीन काल में व्यवहृत हुआ है, परन्तु वह सब नहीं के बराबर है। जैनों की तरह उनके वहाँ यह एक मात्र रूढ़ एवं उनका अपना निजी शब्द बन कर नहीं रह सका।

हाँ तो जैन-धर्म में यह शब्द किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है, और इसका क्या महत्व है ? यह देख लेने की बात है। तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ होता है—तीर्थ का कर्ता अर्थात् बनाने वाला। 'तीर्थ' शब्द का जैन-परिभाषा के अनुसार मुख्य अर्थ है—धर्म। संसार-समुद्र से आत्मा को तिराने वाला एक मात्र अहिंसा एवं सत्य आदि धर्म ही है; अतः धर्म को तीर्थ कहना शब्द-शास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त ही है। तीर्थंकर अपने समय में संसार-सागर से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं; उद्धार करते हैं, अतः वे तीर्थंकर कहलाते

[1] देखो बौद्ध साहित्य का लंकावतार सूत्र।

हैं। धर्म के आचरण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक=गृहस्थ पुरुष और श्राविका-गृहस्थ स्त्री रूप चतुर्विध संघ को भी गौण दृष्टि से तीर्थ कहा जाता है। अतः चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना करने वाले महापुरुषों को तीर्थंकर कहते हैं।

जैन-धर्म की मान्यता है कि जब-जब संसार में अत्याचार का राज्य होता है, प्रजा दुराचारों से उत्पीड़ित हो जाती है, लोगों में दैवी-धार्मिक भावना क्षीण होकर आसुरी-पाप भावना जोर पकड़ लेती है; तब-तब संसार में तीर्थंकरों का अवतार होता है। और वे संसार की मोह-माया का परित्याग कर, त्याग और वैराग्य की अखंड धूनी रमा कर, अनेकानेक भयंकर कष्ट उठाकर पहले स्वयं सत्य की पूर्ण ज्योति का दर्शन करते हैं—जैन-परिभाषा के अनुसार केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर मानव-संसार को धर्मोपदेश देकर उसे असत्य-प्रपंच के चंगुल से छुड़ाते हैं, सत्य के पथ पर लगाते हैं, और संसार में पूर्ण सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित करते हैं। तीर्थंकरों के शासन-काल में प्रायः प्रत्येक भव्य स्त्री-पुरुष अपने आप को पहचान लेता है, और 'स्वयं सुख पूर्वक जीना, दूसरों को सुख पूर्वक जीने देना तथा दूसरों को सुख पूर्वक जीते रहने के लिए अपने सुखों की कुछ भी परवाह न करके अधिक से अधिक सहायता देना'—उक्त महान् सिद्धान्त को अपने जीवन में उतार लेता है। अस्तु, तीर्थंकर वह है, जो संसार को सच्चे धर्म का उपदेश देता है, संसार को उसके पतन करने वाली बुराइयों से बचाता है, संसार को भौतिक सुखों की लालसा से हटाकर अध्यात्म-सुखों का प्रेमी बनाता है, और बनाता है नरक-स्वरूप उन्मत्त एवं विक्षिप्त संसार को सत्यं शिवं सुन्दरं का स्वर्ग!

तीर्थंकर के लिए लोक-भाषा में यदि कुछ कहना चाहें तो उन्हें पूर्ण उत्कृष्ट अध्यात्म-योगी कह सकते हैं। तीर्थंकरों की आत्मा पूर्ण विकसित होती है, फलतः उनमें अनन्त आध्या-

त्मिक शक्तियाँ पूर्णतया प्रकट हो जाती हैं। उन्हें न किसी से राग होता है और न किसी से द्वेष। अखिल संसार को वे मित्रता की सुधासिक्त दृष्टि से निहारते हैं, और तुच्छ वनस्पति आदि स्थावर जीवों से लेकर समस्त जंगम प्राणि-मात्र के प्रति अहंता-ममता का भाव रखते हैं। यही कारण है कि उनके समवसरण में सर्प और नकुल, चूहा और बिलाव, गाय और व्याघ्र आदि जन्म-जात शत्रु प्राणी भी द्वेष-भाव को छोड़कर बड़े प्रेम-भरे भ्रातृ-भाव के साथ पूर्ण शान्त अवस्था में रहते हैं। द्वेष और द्रोह क्या चीज होते हैं, इसका उनके हृदय में भान तक नहीं रहता। क्या मनुष्य, क्या पशु, सभी पर अखंड शान्ति का साम्राज्य छाया रहता है। उनकी ज्ञान-शक्ति अनन्त होती है। समस्त चराचर विश्व का उन्हें त्रिकाला-बाधित सर्वोत्कृष्ट पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। विश्व का कोई भीरहस्य ऐसा नहीं रहता, जो कि उनके ज्ञान में न देखा जाता हो।

जैन धर्म में मानव जीवन की दुर्बलता के अर्थात् मनुष्य की अपूर्णता के सूचक निम्नोक्त अट्ठारह दोष माने गए हैं—

१. मिथ्यात्व=असत्य विश्वास।
२. अज्ञान।
३. क्रोध।
४, मान।
५. माया=कपट।
६. लोभ।
७. रति=सुन्दर वस्तु के मिलने पर हर्ष।
८. अरति=असुन्दर वस्तु के मिलने पर खेद।
९. निद्रा।
१०. शोक।
११. अलीक=झूठ।

१२. चौर्य=चोरी।
१३. मत्सर=डाह।
१४. भय।
१५. हिंसा।
१६. राग=आसक्ति।
१७. क्रीड़ा=खेल तमाशा नाच-रंग।
१८. हास्य=हंसी मज़ाक।

कुछ ग्रन्थों में अट्ठारह दोष दूसरे रूप में भी माने गए हैं।

जब तक मनुष्य इन अट्ठारह दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं होता, तब तक वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच सकता। ज्यों ही वह अट्ठारह दोषों से मुक्त होता है, त्यों ही आत्म-शुद्धि के महान् ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है और केवल-ज्ञान एवं केवल-दर्शन के द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। तीर्थंकर भगवान् उक्त अट्ठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। एक भी दोष, अणुमात्र अंश में भी, उनमें नहीं होता।

तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार नहीं हैं

अजैन संसार जैन तीर्थंकरों के प्रति बहुत भ्रान्त धारणाएँ रखता है। खेद है कि इतिहास-सम्बद्ध लाखों वर्षों से अजैन-संसार का जैन-संसार के साथ अति निकट का सम्बन्ध चला आ रहा है; फिर भी उसने निष्पक्ष दृष्टि से कभी सत्य को परखने की चेष्टा न की।

कुछ लोग कहते हैं कि—जैन अपने तीर्थंकरों को ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं उन बन्धुओं से कहूँगा कि वे भूल में हैं। जैन-धर्म ईश्वरवादी नहीं है। वह किसी एक संसार के कर्ता, धर्ता, संहर्ता ईश्वर को नहीं मानता। उसकी यह मान्यता नहीं है कि हजारों भुजाओं वाला, दुष्टों का नाश करने वाला, भक्तों का पालन करने वाला, सर्वथा परोक्ष, कोई

एक ईश्वर है; और वह यथा समय त्रस्त संसार पर दया-भाव लाकर गो-लोक, सत्य-लोक या बैकुण्ठ धाम आदि से दौड़ा हुआ संसार में आता है, किसी के यहाँ जन्म लेता है, और फिर लीला दिखाकर वापस लौट जाता है। अथवा जहाँ कहीं भी है, वहीं से बैठा हुआ संसार-घटिका की सूई फेर देता है और मनचाहा बजा देता है, अर्थात् कर दिखाता है।

जैन-धर्म में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा वन्दनीय प्राणी नहीं है। जैन शास्त्रों में आप जहाँ कहीं भी देखेंगे, मनुष्यों को सम्बोधन करते हुए 'देवाणुप्पिय' शब्द का प्रयोग हुआ पाएँगे। उक्त संबोधन का यह भावार्थ है कि 'देव-संसार भी मनुष्य के आगे तुच्छ है। वह भी मनुष्य के प्रति प्रेम, श्रद्धा एवं आदर का भाव रखता है। मनुष्य असीम तथा अनन्त शक्तियों का प्रभव-स्थान है। वह दूसरे शब्दों में स्वयंसिद्ध ईश्वर है, परन्तु संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, अतः बादलों से ढका हुआ सूर्य है, कुछ भी प्रकाश नहीं फेंक सकता।

परन्तु ज्यों ही वह होश में आता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, दुर्गुणों को त्यागकर सद्गुणों को अपनाता है; तो धीरे-धीरे निर्मल शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है, एक दिन जगमगाती हुई अनंत शक्तियों का प्रकाश प्राप्त कर मानवता के पूर्ण विकास की कोटि पर पहुँच जाता है और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, ईश्वर, परमात्मा, शुद्ध, बुद्ध बन जाता है। तदनन्तर जीवन्मुक्त दशा में संसार को सत्य का प्रकाश देता है। और अन्त में निर्वाण पाकर मोक्ष-दशा में सदा काल के लिए अजर-अमर अविनाशी—जैन-परिभाषा में सिद्ध हो जाता है।

अस्तु, तीर्थंकर भी मनुष्य ही होते हैं, वे कोई अजीब दैवी-सृष्टि के प्राणी, ईश्वर अवतार या ईश्वर के अंश-वंश कुछ नहीं होते। एक दिन वे भी हमारी-तुम्हारी तरह ही

वासनाओं के गुलाम थे, पाप-मल से लिप्त थे, संसार के दुःख, शोक, आधि-व्याधि से संत्रस्त थे। सत्य क्या है, असत्य क्या है—यह उन्हें कुछ भी पता नहीं था। इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र ध्येय था, और उसी कल्पना के पीछे अनादि काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झंझावात में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु अपूर्व पुण्योदय से सत्पुरुषों का संग मिला, चैतन्य और जड़ का भेद समझा, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख का महान् अन्तर ध्यान में आया, फलतः झटपट संसार की वासनाओं से मुँह मोड़कर सत्य-पथ के पथिक बन गए। आत्म-संयम की साधना में लगातार अनेक जन्म बिताए और अन्त में एक दिन वह मनुष्यभव प्राप्त किया कि उसमें महान् तीर्थंकर के रूप में प्रकट होगए। उस जन्म में भी यह नहीं कि किसी राजा-महाराजा के यहाँ जन्म लिया और वयस्क होने पर भोग-विलास करते हुए ही तीर्थंकर होगए। सब कुछ राज्य वैभव छोड़ना होता है, पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह की साधना में दिन रात जुटा रहना होता है, पूर्ण त्यागी साधु बनकर एकान्त निर्जन स्थानों में आत्म-मनन करना होता है, अनेक प्रकार के आधिभौतिक; आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों को पूर्ण शान्ति के साथ सहन कर प्राणापहारी शत्रु पर भी अन्तर्हृदय से दयामृत का शीतल झरना बहाना होता है, तब कहीं पाप-मल से मुक्ति होने पर केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति के द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है।

तीर्थंकरों का पुनरागमन नहीं

मैं एक जैन भिक्षु हूँ और प्रायः सब ओर भ्रमण कर उपदेश देना मेरा कर्त्तव्य है। अस्तु, बहुत से स्थानों में अजैन बन्धुओं द्वारा यह शंका उठाई गई है कि 'जैनों में २४ ईश्वर या देव हैं, जो प्रत्येक काल-चक्र में बारी-बारी से जन्म लेते हैं

और धर्मोपदेश देकर पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं ।' इस शंका का समाधान कुछ तो पहले ही कर दिया गया है । फिर भी स्पष्ट शब्दों में यह बात बतला देना चाहता हूँ कि—जैन-धर्म में ऐसा अवतारवाद नहीं माना गया है । अव्वल तो अवतार शब्द ही जैन-परिभाषा का नहीं है । यह एक वैदिक परम्परा का शब्द है. जो उसकी मान्यता के अनुसार विष्णु के बार-बार जन्म लेने के रूप में राम, कृष्ण आदि सत्पुरुषों के लिए आया है । आगे चलकर यह मात्र महापुरुष का द्योतक रह गया और इसी कारण आजकल के जैन-बन्धु भी किसी के पूछने पर झटपट अपने यहाँ २४ अवतार बता देते हैं और तीर्थंकरों को अवतार कह देते हैं । परन्तु इसके पीछे किसी एक व्यक्ति के द्वारा बार-बार जन्म लेने की भ्रान्ति भी चली आई है; जिसको लेकर अबोध जनता में यह विश्वास फैल गया है कि २४ तीर्थंकर बँधे हुए हैं और वे ही बार-बार जन्म लेते हैं, संसार का उद्धार करते हैं, और फिर अपने स्थान में जा विराजते हैं ।

जैन-धर्म में मोक्ष प्राप्त करने के बाद संसार में पुनरागमन नहीं माना जाता । विश्व का प्रत्येक नियम कार्य-कारण के रूप में सम्बद्ध है । बिना कारण के कभी कार्य नहीं हो सकता । बीज होगा, तभी अंकुर हो सकता है; धागा होगा तभी वस्त्र बन सकता है । अस्तु, आवागमन का, जन्म-मरण पाने का कारण कर्म है, और वह मोक्ष अवस्था में रहता नहीं । अतः कोई भी विचारशील सज्जन समझ सकता है कि—जो आत्मा कर्म-मल से मुक्त होकर मोक्ष पा चुका, वह फिर संसार में कैसे आ सकता है ? बीज तभी तक उत्पन्न हो सकता है, जब तक कि वह भुना नहीं है, निर्जीव नहीं हुआ है । जब बीज एक बार भुन गया, तो फिर तीन काल में भी उत्पन्न नहीं हो सकता । जन्म-मरण अंकुर का बीज कर्म है । जब उसे तपश्चरण

आदि धर्म-क्रियाओं से जला दिया, तो बस फिर सदा-काल के लिए अजर अमर ! एक प्राचीन जैनाचार्य ने इस सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है :—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं
प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्म-बीजे तथा दग्धे,
न रोहति भवांकुरः ।

बहुत दूर चला आया हूँ; परंतु विषय को स्पष्ट करने के लिए इतना विस्तार के साथ लिखना आवश्यक भी था। अब आप अच्छी तरह समझ गए होंगे कि जैन तीर्थंकर मुक्त हो जाते हैं, फलतः वे संसार में दुबारा नहीं आते। अस्तु, प्रत्येक काल-चक्र में जो २४ तीर्थंकर होते हैं, वे सब पृथक्-पृथक् आत्मा होते हैं; एक नहीं।

तीर्थंकरों व अन्य मुक्त आत्माओं में अन्तर।

अब एक और गम्भीर प्रश्न है, जो प्रायः हमारे सामने आया करता है। कुछ लोग कहते हैं कि—'जैन अपने २४ तीर्थंकरों का ही मुक्त होना मानते हैं, और कोई इनके यहाँ मुक्त नहीं होते।' यह बिल्कुल ही भ्रान्त धारणा है। इसमें सत्य का अणुमात्र भी अंश नहीं है।

तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य आत्माएँ भी मुक्त होती हैं। जैन-धर्म किसी एक व्यक्ति, जाति या समाज के हक में ही मुक्ति का ठेका नहीं रखता। उसकी उदार दृष्टि में तो हर कोई मनुष्य, चाहे वह किसी भी देश, जाति, समाज, या धर्म का हो, जो अपने आप को बुराइयों से बचाता है; आत्मा को अहिंसा, क्षमा, सत्य, शील आदि सद्गुणों से पवित्र बनाता है, वह मुक्त हो सकता है।

तीर्थंकरों में और अन्य मुक्त होने वाले महान् आत्माओं में आंतरिक शक्तियों की बाबत कोई भेद नहीं है। केवल-ज्ञान,

केवल-दर्शन आदि आत्मिक शक्तियाँ सभी मुक्त होने वालों में समान होती हैं। जो कुछ भेद है, वह धर्म-प्रचार की मौलिक दृष्टि का और अन्य योग-संबंधी अद्भुत शक्तियों का है। तीर्थंकर महान् धर्म-प्रचारक होते हैं, वे अपने अद्वितीय प्रचण्ड तेजोबल से पाखण्ड का अन्धकार छिन्न-भिन्न कर देते हैं, और एक प्रकार से जीर्ण-शीर्ण, गले-सड़े मानव-संसार का काया-कल्प कर डालते हैं। उनकी योग-सम्बन्धी शक्तियाँ अर्थात् सिद्धियाँ भी बड़ी ही अद्भुत होती हैं। उनके शरीर में से सुगंध आया करती है, मल का जमाव नहीं होता, आकाश में धर्म-चक्र घूमा करता है। उनके प्रभाव से रोग-ग्रस्त प्राणियों के रोग भी दूर हो जाते हैं। उनकी भाषा में वह चमत्कार होता है कि—क्या मनुष्य, क्या पशु, सभी उनकी मधुर वाणी का भावार्थ समझ लेते हैं। इस प्रकार अनेक लोकोपकारी सिद्धियों के स्वामी तीर्थंकर होते हैं, जब कि दूसरे मुक्त होने वाले आत्मा ऐसे नहीं होते। अर्थात् न तो वे तीर्थंकर जैसे महान् धर्म-प्रचारक ही होते हैं, और न योग-सिद्धियों के इतने विशाल स्वामी ही। साधारण मुक्त जीव अपना अन्तिम विकास-लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर अपना चिरस्थायी एवं अक्षुण्ण प्रभुत्व नहीं बैठा पाते। यही एक विशेषता है, जो तीर्थंकर और अन्य मुक्त आत्माओं में अन्तर डालती है।

प्रस्तुत विषय के साथ लगती हुई यह बात भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह भेद, मात्र जीवन्मुक्त दशा में अर्थात् देहधारी अवस्था में ही है। मोक्ष में पहुँच जाने के बाद कोई भी भेद-भाव नहीं रहता। वहाँ तीर्थंकर और अन्य मुक्त पुरुष भी एक ही स्वरूप में रहते हैं। क्योंकि जब तक जीवात्मा जीवन्मुक्त दशा में रहता है, तब तक तो प्रारब्ध-कर्म भोगने बाकी रहते हैं, अतः उनके कारण जीवन में भेद रहता है। परन्तु देह-मुक्त दशा होने पर मोक्ष में तो कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहता, फलतः तन्मूलक भेद-भाव भी नहीं रहता।

: ९ :

चौबीस तीर्थंकर

आध्यात्मिक-विकास के ऊँचे शिखर पर पहुँचने वाले महा-पुरुषों को जैन-धर्म में तीर्थंकर कहा जाता है। तीर्थंकरदेव राग, द्वेष, भय, आश्चर्य, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, चिंता आदि विकारों से सर्वथा रहित होते हैं। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के द्वारा तीन लोक और तीन काल की सब बातें जानते, देखते हैं। स्वर्गलोक के देवता भी उनके चरण कमलों में श्रद्धा-भक्ति के साथ वंदना करते हैं। जहाँ विराजते हैं, आकाश में देवता दुन्दुभी बजाते हैं और गन्धोदक की वर्षा करते हैं।

तीर्थंकरों का जीवन बहुत अद्‌भुत होता है। उनके समव-सरण (धर्म-सभा) में अहिंसा का अखण्ड राज्य होता है। सिंह और मृग आदि विरोधी प्राणी भी एक साथ प्रेम से बैठे रहते हैं। न सिंह में मारक-वृत्ति रहती है और न मृग में भय-वृत्ति। अहिंसा के देवता के सामने हिंसा का अस्तित्व भला कैसे रह सकता है?

ऊपर कुछ बातें असंभव जैसी मालूम होती हैं, परंतु आध्यात्मिक योग के सामने ये कुछ भी असंभव नहीं हैं। आजकल भौतिक विद्या के चमत्कार ही कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं हैं, तब आध्यात्मिक विद्या के चमत्कारों का तो कहना ही क्या? आज के साधारण योगी भी जब अपने चमत्कारों से मानव-बुद्धि को हतप्रभ कर देते हैं, तो फिर तीर्थंकर देव तो योगिराज हैं। उनके आध्यात्मिक वैभव की तुलना तो अन्य किसी से की ही नहीं जा सकती।

वर्तमान चालू काल-प्रवाह में चौवीस तीर्थंकर हुए हैं। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में चौबीसों ही तीर्थंकरों का विस्तृत जीवन-चरित्र दिया हुआ है। परन्तु यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही चौबीस तीर्थंकरों का परिचय देना है।

१. ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव पहले तीर्थंकर थे। आपका जन्म जुगलियों के युग में हुआ, जब मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते थे और वन-फल खाकर जीवन-यापन करते थे। आपके पिता का नाम नाभिराजा और माता का नाम मरुदेवी था। आपने युवावस्था में आर्य-सभ्यता की नींव डाली। पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौंसठ कलाएँ सिखाईं। आप विवाहित हुए। बाद में राज्य त्याग कर दीक्षा ग्रहण की और कैवल्य पाया। आपका जन्म चैत्र कृष्णा अष्टमी को और निर्वाण=मोक्ष माघ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि कैलाश पर्वत है। ऋग्वेद, विष्णुपुराण, अग्नि पुराण, भागवत आदि जैनेतर वैदिक साहित्य में भी आपका गुण-कीर्तन किया गया है।

२. अजितनाथ

भगवान् अजितनाथ दूसरे तीर्थंकर थे। आपका जन्म अयोध्या नगरी इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय सम्राट् जितशत्रु राजा के यहाँ हुआ। आपकी माता का नाम विजयादेवी था। भारतवर्ष के दूसरे चक्रवर्ती सगर आपके चचा सुमित्रविजय के पुत्र थे। आपका जन्म माघ शुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है, जो आजकल बंगाल में पारसनाथ पहाड़ के नाम से प्रसिद्ध है।

३. संभवनाथ

भगवान् संभवनाथ तीसरे तीर्थंकर थे। आपका जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ। आपके पिता का नाम इक्ष्वाकु वंशीय महाराजा जितारि और माता का नाम सेनादेवी था। आपने पूर्व जन्म में विपुल वाहन राजा के रूप में अकालग्रस्त प्रजा

का पालन किया था और अपना सब कोष दीनों के हितार्थ लुटा दिया था। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है।

४. अभिनंदननाथ

भगवान् अभिनंदननाथ चौथे तीर्थंकर थे। आपका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा संवर के यहाँ हुआ। आपकी माता का नाम सिद्धार्था था। आपका जन्म माघ शुक्ला द्वितीया को और निर्वाण वैशाख शुक्ला अष्टमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

५. सुमतिनाथ

भगवान् सुमतिनाथ पाँचवे तीर्थंकर थे। आपका जन्म अयोध्या नगरी (कौशलपुरी) में हुआ। आपके पिता महाराजा मेघरथ और माता सुमंगलादेवी थी। आपका जन्म वैशाख शुक्ला अष्टमी को तथा निर्वाण चैत्र शुक्ला नवमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है। आप जब गर्भ में आए, तब आपकी माता की बुद्धि बहुत स्वच्छ और तीव्र हो गई थी, अतः आपका नाम सुमतिनाथ रखा गया।

६. पद्मप्रभु

भगवान् पद्मप्रभ छठे तीर्थंकर थे। आपका जन्म कौशाम्बी नगरी के राजा श्रीधर के यहाँ हुआ। माता का नाम सुसीमा था। जन्म कार्तिक कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है।

७. सुपार्श्वनाथ

भगवान् सुपार्श्वनाथ सातवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्मभूमि काशी (बनारस),पिता प्रतिष्ठेन राजा और माता पृथ्वी। आपका जन्म ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्र-पद कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

८. चन्द्रप्रभ

भगवान् चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि चन्द्रपुरी नगरी, पिता महासेन राजा, और माता लक्ष्मणा। आपका जन्म पौष शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

९. सुविधिनाथ

भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) नौवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि काकन्दी नगरी, पिता सुग्रीव राजा, माता रामादेवी। आपका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेत-शिखर है।

१०. शीतलनाथ

भगवान् शीतलनाथ दशवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि भद्दिलपुर नगरी। पिता दृढ़रथ राजा और माता नन्दारानी। जन्म माघ कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण वैशाख कृष्णा द्वितीया को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर।

११. श्रेयांसनाथ

भगवान् श्रेयांसनाथ ग्यारहवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि सिंहपुर नगरी, पिता विष्णुसेन राजा और माता विष्णुदेवी। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण श्रावण कृष्णा तृतीया को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर। भगवान् महावीर ने पूर्व जन्मों में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में श्री श्रेयांसनाथजी के चरणों में उपदेश प्राप्त किया था।

१२. वासुपूज्य

भगवान् वासुपूज्य बारहवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि चंपा नगरी, पिता वसुपूज्य राजा और माता जया-देवी। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। निर्वाण-भूमि चंपा नगरी। आप बाल ब्रह्मचारी रहे, विवाह नहीं किया।

१३. विमलनाथ

भगवान् विमलनाथ तेरहवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि कम्पिलपुर नगरी, पिता कर्तृवर्म राजा और माता श्यामादेवी। जन्म माघ शुक्ला तृतीया और निर्वाण आषाढ़ कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर।

१४. अनन्तनाथ

भगवान् अनन्तनाथ चौदहवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि अयोध्या नगरी, पिता सिंहसेन राजा और माता सुयशा। जन्म वैशाख कृष्णा तृतीया को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर।

१५. धर्मनाथ

भगवान् धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि रत्नपुर नामक नगरी, पिता भानुराजा और माता सुव्रता। जन्म माघ शुक्ला तृतीया को और निर्वाण ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर।

१६. शान्तिनाथ

भगवान् शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर थे। आपका जन्म हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से हुआ। जन्म ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को और निर्वाण भी इसी तिथि को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर। आप भारत के पंचम चक्रवर्ती राजा भी थे। आपके जन्म लेने पर देश में फैली हुई मृगी रोग की महामारी शान्त होगई थी, इसलिए आपका नाम शान्तिनाथ रखा गया। आप बहुत ही दयालु प्रकृति के थे। पहले जन्म में आपने कबूतर की रक्षा के लिए बदले में शिकारी को अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था।

१७. कुन्थुनाथ

भगवान् कुन्थुनाथ सतरहवें तीर्थंकर थे। आपका जन्म-स्थान हस्तिनापुर, पिता सूरराजा, माता श्रीदेवी। जन्म

वैशाख कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण वैशाख कृष्णा प्रति पदा (एकम) को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर। आप भारत के छठे चक्रवर्ती राजा भी थे।

१८. अरनाथ

भगवान् अरनाथ अठारवें तीर्थंकर थे। आपका जन्म स्थान हस्तिनापुर, पिता सुदर्शनराजा और माता श्रीदेवी। आपका जन्म मार्ग शीर्ष शुक्ला दशमी और निर्वाण भी मार्ग शीर्ष शुक्ला दशमी को ही हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर। आप भारत के सातवें चक्रवर्ती राजा भी हुए।

१९. मल्लिनाथ

भगवान् मल्लिनाथ उन्नीसवें तीर्थंकर थे। आपका जन्म-स्थान मिथिला नगरी, पिता कुम्भराजा, और माता प्रभावतोदेवी। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को और निर्वाण फाल्गुन शुक्ला द्वादशी को सम्मेतशिखर पर हुआ। आप वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों में स्त्री तीर्थंकर थे। आपने विवाह नहीं किया, आजन्म ब्रह्मचारी रहे। स्त्री होकर भी आपने बहुत व्यापक भ्रमण किया और धर्म-प्रचार किया। आपने चालीस हजार मुनियों को और पचपन हज़ार साध्वियों को दीक्षा दी। आपके एक लाख उन्यासी हजार श्रावक थे और तीन लाख सत्तर हजार श्राविकाएँ थीं।

२०. मुनिसुव्रतनाथ

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ बीसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि राजगृह नगरी, पिता हरिवंश-कुलोत्पन्न सुमित्र राजा और माता पद्मावतीदेवी। जन्म ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर।

२१. नमिनाथ

भगवान् नमिनाथ इक्कीसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि मिथिला नगरी थी। कुछ आचार्य मथुरा नगरी

बताते हैं। पिता विजयसेन राजा और माता वप्रादेवी। जन्म श्रावण कृष्णा अष्टमी और निर्वाण वैशाख कृष्णा दशमी को हुआ। निर्वाण सम्मेतशिखर।

२२. नेमिनाथ

भगवान् नेमिनाथ बाईसवें तीर्थंकर थे। आपका दूसरा नाम अरिष्टनेमि भी था। आपकी जन्म-भूमि आगरा के पास शौरीपुर नगर, पिता यदुवंश के राजा समुद्रविजय, और माता शिवादेवी। जन्म श्रावण शुक्ला पंचमी और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण भूमि सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत है, जिसे पुराने युग में रेवतगिरि भी कहते थे। भगवान् अरिष्टनेमि कर्मयोगी श्रीकृष्णचन्द्र के ताऊ के पुत्र भाई थे। श्रीकृष्ण ने आपसे ही धर्मोपदेश सुना था। आप बड़े ही कोमल प्रकृति के महापुरुष थे। आपका विवाह सम्बन्ध महाराजा उग्रसेन की सुपुत्री राजीमती से निश्चित हुआ था, किन्तु विवाह के अवसर पर बरातियों के भोजन के लिए पशु वध होता देख कर आप विरक्त हो मुनि बन गए, विवाह नहीं किया।

२३. पार्श्वनाथ

भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि वाराणसी (बनारस), पिता अश्वसेन राजा और माता वामादेवी। जन्म पौष कृष्णा दशमी और निर्वाण श्रावण शुक्ला अष्टमी। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर। आपने कमठ तपस्वी को बोध दिया था और उसकी धूनी में से जलते हुए नाग को बचाया था।

२४. महावीर

भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे। आपकी जन्म-भूमि वैशाली (क्षत्रिय कुण्ड), पिता सिद्धार्थ राजा और माता तृशलादेवी। जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी और निर्वाण कार्तिक

कृष्णा पँदरस (दीवाली)। निर्वाण-भूमि पावापुरी। भगवान् बड़े ही उत्कृष्ट त्यागी पुरुष थे। भारतवर्ष में सर्वत्र फैले हुए हिंसामय यज्ञों का निषेध आपके ही द्वारा हुआ था। बौद्ध-साहित्य में भी आपका उल्लेख आता है। बुद्ध आपके समकालीन थे। आजकल भगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है।

: १०

आदर्श जैन

सकल विश्व की शान्ति चाहने वाला,
सबको प्रेम और स्नेह की आँखों से देखने वाला,
वही सच्चा जैन है !

❀ ❀ ❀

शान्ति का मधुर संगीत सुनाकर
ज्ञान का प्रकाश दिखाने वाला
कर्त्तव्य-वीरता का डंका बजाकर,
प्रेम की सुगन्ध फैलाने वाला
अज्ञान और मोह की निद्रा से जगाने वाला
वही सच्चा जैन है !

❀ ❀ ❀

ज्ञान-चेतना की गंगा बहाने वाला
मधुरता की जीवित मूर्ति
मेरु को भी क्षण-भर में कँप कँपाने वाला वीर
वही सच्चा जैन है !

❀ ❀ ❀

जैन का अर्थ 'अजेय' है,
मन और इन्द्रियों के विकारों को जीतने वाला
आत्म-विजय की सदा प्रतीक्षा में रहने वाला
वही सच्चा जैन है ।

❀ ❀ ❀

'जैनत्व' और कुछ नहीं, आत्मा की शुद्ध स्थिति है !

आत्मा को जितना कसा जाय, उतना ही जैनत्व का विकास !
जैन कोई जाति नहीं, धर्म है !
किसी भी देश, पंथ और जाति का
कोई भी आत्म-विजय-पथ का यात्री, वही जैन !

❀ ❀ ❀

जैन बहुत थोड़ा, परन्तु मधुर बोलता है;
मानो झरता हुआ अमृत रस हो !
उसकी मृदुवाणी, कठोर से कठोर हृदय को भी
पिघला कर मक्खन बना देती है !
जैन के जहाँ भी पाँव पड़ें, वहीं कल्याण फैल जाय !
जैन का समागम,
जैन का सह-चार
सबको अपूर्व शान्ति देता है !
इसके गुलाबी हास्य के पुष्प
मानव-जीवन को सुगन्धित बना देते हैं !
उसकी सब प्रवृत्तियाँ
जीवन में रस और कला भरने वाली हैं !

❀ ❀ ❀

जैन गहरा है, अत्यन्त गहरा है !
वह छिछोरा नहीं, छलकने वाला नहीं !
उसके हृदय की गहराई में
शक्ति और शान्ति का अक्षय भंडार है,
धैर्य और शौर्य का प्रबल प्रवाह है,
श्रद्धा और निर्दोष भक्ति की मधुर झनकार है !

❀ ❀ ❀

धन-वैभव से जैन को कौन खरीद सकता है ?

धमकियों से उसे कौन डरा सकता है ?
और खुशामद से भी कौन जीत सकता है ?
कोई नहीं, कोई नहीं !
सिद्धान्त के लिए काम पड़े तो वह पल भर में
स्वर्ग के साम्राज्य को भी ठोकर मार सकता है !

❀　　　❀　　　❀

जैन के त्याग में दिव्य-जीवन की सुगन्ध है !
आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का विलक्षण मेल है !
जैन की शक्ति, संहार के लिए नहीं है !
वह तो अशक्तों को शक्ति देती है,
शुभ की स्थापना करती है,
और अशुभ का नाश करती है !
सच्चा जैन पवित्रता और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए,
मृत्यु को भी सहर्ष सानन्द निमंत्रण देता है।
जैन जीता है,
आत्मा के पूर्ण वैभव में,
और मरता भी है वह,
आत्मा के पूर्ण वैभव में !

❀　　　❀　　　❀

जैन की गरीबी में सन्तोष की छाया है !
जैन की अमीरी में गरीबों का हिस्सा है !

❀　　　❀　　　❀

जैन आत्म-श्रद्धा की नौका पर चढ़ कर,
निर्भय और निर्द्वन्द्व भाव से जीवन-यात्रा करता है !
विवेक के उज्ज्वल झंडे के नीचे,
अपने व्यक्तित्व को चमकाता है !
राग और द्वेष से रहित,
वासनाओं का विजेता 'अरिहंत' उसका उपास्य है !

हिमगिरि के समान अचल अडिग जैन
दुनिया के प्रवाह में स्वयं न बह कर,
दुनिया को ही अपनी ओर आकृष्ट करता है !
मानव-संसार को अपने उज्ज्वल चरित्र से प्रभावित करता है !
अतएव एक दिन देवगण भी
सच्चे जैन की चरण-सेवा में,
सादर सभक्ति मस्तक झुका देते हैं !

❀ ❀ ❀

जैन बनना, साधक के लिए
परम सौभाग्य की बात है !
जैनत्व का विकास करना,
इसी में मानव-जीवन का परम कल्याण है !

['आदर्श जैन' के आधार पर]

: ११ :

दान

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। यहाँ धर्म को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। छोटी से छोटी बात को भी धर्म की कसौटी पर परखना, अच्छा माना गया है। अतएव भारत में धर्म-क्रियाओं की कोई निश्चित गिनती नहीं है। जीवन समाप्त हो सकता है, परन्तु धर्म-क्रियाओं की गणना नहीं हो सकती। जितने भी अच्छे विचार और अच्छे आचार हैं, वे सब धर्म हैं।

परन्तु विश्व के धर्मों में सबसे बड़ा धर्म कौन है?—यह प्रश्न है, जो अनादि काल से साधक के मन में उठता आया है। इस प्रश्न का समाधान अनेक प्रकार से किया गया है। किसी महापुरुष ने तप को बड़ा धर्म बताया है, किसी ने दया को, किसी ने सत्य को, किसी ने भगवान् की भक्ति को, किसी ने ब्रह्मचर्य को, तो किसी ने क्षमा को। सभी ने अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक कहा है। परन्तु हमें यहाँ एक महापुरुष की बात, सब से अच्छी मालूम देती है कि—"**दान-धर्म सबसे बड़ा धर्म है।**"

दान का महत्त्व बहुत बढ़ा-चढ़ा है। दान दुर्गति का नाश करता है, मनुष्य के हृदय को विशाल और विराट बनाता है, सोई हुई मानवता को जागृत करता है, हृदय में दया और प्रेम की गंगा बहा देता है, सहानुभूति का एक सुन्दर सुरभिमय वातावरण तैयार करता है। दान देने से संसार में कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। दान देने वाला सर्वत्र प्रेम और आदर का स्थान पाता है। उसके यश की सुगन्ध दशों दिशाओं में सर्वत्र फैल जाती है।

दान देना कोई साधारण कार्य नहीं है। अपनी संग्रह की हुई वस्तु को मुक्त कर से प्रसन्नतापूर्वक किसी को अर्पण कर

देना, वस्तुतः बहुत बड़े सत्-साहस का काम है। लोग कौड़ी-कौड़ी पर मरते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं। पैसे-पैसे के लिए अपने प्राणों को ख़तरे में डालते हैं। दुनिया-भर का तूफान खड़ा करने के बाद कहीं चार पैसे प्राप्त होते हैं। दश प्राण तो शास्त्र में बताए हैं। धन को लोग ग्यारहवाँ प्राण बतलाते हैं। तभी तो कहा है **देना और मरना बराबर है।'** अपने पसीने की गाढ़ी कमाई को परोपकार में खर्च करना, बड़े ही भाग्यशाली दिव्य आत्माओं का काम है। जो स्त्री-पुरुष दान करते हैं, और प्रसन्न-भाव से करते हैं, सचमुच वे देवस्वरूप हैं। दान देते समय दाता जीवन की एक बहुत बड़ी ऊँचाई पर पहुँच जाता है।

जैनधर्म में दान की बड़ी महिमा गाई है। दान देने वाले को स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी बताया है। भगवान् महावीर खुद बहुत बड़े दानी थे। बचपन से ही उन्हें दान से प्रेम था। किसी भी भूखे ग़रीब को देखते, तो उनकी आँखों में दया के आँसू उमड़ने लगते थे। जो भी पास में होता, ग़रीबों को दान कर देते थे। भगवान् राजकुमार थे। किसी भी भौतिक सुख-साधन की कमी नहीं थी। वे हमेशा अपने को मिला हुआ विशिष्ट मिष्टान्न आदि भोजन साथियों को बाँट कर ही खाते थे। राजपाट त्याग कर जब मुनि होने लगे, तब भी भगवान् ने एक वर्ष तक निरन्तर दान दिया था। जो कुछ भी अपने पास धन का संग्रह था, वह सब का सब ग़रीबों को लुटा दिया था। उन दिनों भगवान् एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान में देते रहे। भगवान् पार्श्वनाथ आदि दूसरे तीर्थंकर भी बहुत बड़े दानी थे। जैन धर्म में जहाँ दान, शील, तप और भावना के रूप में धर्म के चार भेद बताये हैं, वहाँ सर्व-प्रथम स्थान दान को ही प्रदान किया है। वस्तुतः दान है भी सर्व-प्रथम स्थान पाने के योग्य।

जैन शास्त्रों में दान के चार प्रकार बतलाए हैं—(१) आहार-दान, (२) औषध-दान, (३) ज्ञान-दान और (४) अभय-दान ।

१. आहार-दान

देहधारी के लिए सब से पहली आवश्यकता भोजन की है । जब भूख लगी होती है, तब कुछ भी नहीं सूझता । अन्न जीवन का प्राण है । जिसने अन्न का दान दिया, उसने सब-कुछ दिया ।

घर पर आए हुए सर्वत्यागी साधु-मुनिराजों को विनय-भक्ति के साथ आहार बहराना चाहिए । मुनियों को दान देना अक्षय धर्म को प्राप्त करना है । सच्चे साधुओं को आहार-दान करने से कर्मों की एकान्त निर्जरा होती है ।

साधुओं के अतिरिक्त किसी भूखे ग़रीब को भोजन देना भी बहुत बड़े धर्म एवं पुण्य का कार्य है । राजा प्रदेशी ने जैन मुनि केशी कुमार स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर ग़रीबों के लिए अपने राज्य की आय का चतुर्थांश दान में लगाने का प्रबन्ध किया था । जैन धर्म विश्व-वेदना का अनुभव सदा से करता आया है । जनता के दुःख-दर्द में बराबर का हिस्सेदार बन कर सहायता पहुँचाना, उसने अपना महान् कर्त्तव्य माना है ।

२. औषध-दान

मनुष्य जब रोग-ग्रस्त होता है, तब किसी भी काम का नहीं रहता है । न वह यथोचित पुरुषार्थ कर अपना और अपने परिवार का ही पेट पाल सकता है, और न अच्छी तरह श्रद्धाभावना के साथ धर्माराधन ही कर सकता है । मन स्वस्थ होने पर ही सब साधना होती है और मन की स्वस्थता प्रायः तन की स्वस्थता पर निर्भर है । यदि तुम कभी बीमार पड़े हो, तो उस समय का अनुभव स्मृति में लाओ ।

कितनी वेदना होती थी ? कितना छटपटाते थे ? बस समझलो, सब जीवों को अपने समान ही दुःख होता है। अतएव जैन धर्म में औषध-दान का भी बहुत बड़ा महत्व है।

आचार्य अमितगति ने उपासकाचार में कहा है कि **"औषध-दान का महत्त्व वचन से वर्णन नहीं किया जा सकता। औषध-दान पाकर जब मनुष्य नीरोग होता है, तो एक बार तो सिद्ध भगवान् जैसा सुख पा लेता है।"** आचार्य ने यह उपमा नीरोगता की दृष्टि से कही है। सिद्ध भगवान् आध्यात्मिक दृष्टि से नीरोग हैं तो साधारण संसारी जीव भौतिक दृष्टि से नीरोग होता है। नीरोग होने पर अनाकुलता होती है, और अनाकुलता ही वस्तुतः सच्चा सुख है।

जैन धर्म के एक और मर्मी सन्त सुखों की गणना करते हुए कहते हैं कि—**"पहला सुख नीरोगी काया।"** रोग-रहित अवस्था पहला सुख माना गया है। ठीक भी है—जब आदमी बीमार होता है, तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। भोजन-पान राग-रंग सब जहर मालूम होने लगते हैं। औषध-दान ही मनुष्य को यह पहला सुख प्रदान करता है। जब कोई आदमी किसी की औषध से अच्छा हो जाता है, तब वह कितना आशीर्वाद देता है ? यह आशीर्वाद ही मनुष्य को सुख-शान्ति देने वाला होता है।

३. ज्ञान-दान

ज्ञान के बिना मनुष्य अन्धा होता है। यदि किसी अंधे को आँखें मिल जायँ, तो देखिये कितना आनन्दित होता है ? उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य को विद्या का दान देना, बहुत महत्त्वपूर्ण दान है। ज्ञान-दान की तुलना, चक्षु-दान से की गई है।

प्राचीन काल में नालन्दा आदि विश्व-विद्यालय इसी भावना को लक्ष्य में रख कर स्थापित किए गए थे, जहाँ

भारत के और भारत से बाहर श्याम, जावा, सुमात्रा, चीन, तुर्की, यूनान आदि विदेशों के हज़ारों विद्यार्थी बिना किसी भेद-भाव के ज्ञानाभ्यास करते थे। ग़रीब विद्यार्थियों के लिए पाठशाला खोलना, पाठशालाओं को दान देना, स्कॉलर शिप देना, पुस्तकें वग़ैरह देना, बोर्डिंग हाउस बनाना आदि सब विद्या-दान में शामिल होते हैं।

जैन धर्म ने इस क्षेत्र में भी बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। आचार्य अमितगति ने तो यहाँ तक कहा है कि—"**धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ विद्या के द्वारा सिद्ध होते हैं, अतः विद्यादान देने वाला चारों ही पुरुषार्थ पाने का अधिकारी है।**" भगवान महावीर ने भी कहा है—"**पढ़मं नाणं तओ दया।**" अर्थात् "पहले ज्ञान है और बाद में दया, तप, परोपकार आदि सब आचरण है।"

४. अभयदान

अभयदान का अर्थ है—किसी मरते हुए प्राणी को बचाना, किसी संकट में पड़े प्राणी का उद्धार करना। यह दान सर्वश्रेष्ठ दान समझा गया है। भगवान् महावीर के पट्टधर शिष्य श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा है कि—'**दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं**, सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।'

अभयदान जैन धर्म का तो प्राण है। जैन धर्म की बुनियाद ही अभयदान पर है। आचार्य अमितगति उपासकाचार में कहते हैं कि—"**अभयदान पाकर प्राणी को जो सुख होता है; वह सुख संसार में न कोई वर्तमान में दूसरा है, न हुआ, और न कभी होगा।**"

दयालु मनुष्य भगवान का दर्जा प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने भी भगवान का पद अभयदान के द्वारा ही प्राप्त किया था। भगवान ने न अपनी ओर से किसी को कष्ट दिया, और न किसी और से दिलवाया। इतना ही नहीं, यज्ञ

ग्रादि में मारे जाने वाले मूक पशुग्रों की रक्षा के लिए भी विशाल प्रयत्न किया। भारतवर्ष से ग्रश्वमेध ग्रादि हिंसक यज्ञों के अस्तित्व का लोप होने में भगवान् महावीर का वह ग्रभयदान-सम्बन्धी महान् प्रयत्न ही मुख्य कारण था।

अतएव प्रत्येक जैन का कर्त्तव्य है कि वह जैसे भी बने, मरते जीवों की रक्षा करे, भूख ग्रौर प्यास से मरते जीवों को ग्रन्न-जल द्वारा सहायता पहुँचाए, गौशाला ग्रादि के द्वारा मूक पशुग्रों की रक्षा का उचित प्रवन्ध करे, जीव दया के कार्यों में ग्रधिक से ग्रधिक ग्रपने धन का उपयोग करे। ग्राज के हिंसा-मय युग में दया की गंगा बहाने का ग्रादर्श कार्य, यदि जैन नहीं करेंगे, तो कौन करेंगे ? जैन जहाँ भी हो, जिस स्थिति में भी हो, सर्वत्र ग्रहिंसा ग्रौर करुणा का वातावरण पैदा कर दे। सच्चा जैन वही है, जिसे देखकर दुःख-दर्द से ग्राँसू बहाने वाले के मुख पर भी एक बार तो प्रसन्नता का मधुर हास्य चमक उठे। जैन जहाँ भी हो, जीवन देने वाले के नाम से प्रसिद्ध हो।

दान के ये चार प्रकार केवल वस्तु-स्थिति के निद-र्शन के लिए हैं। दान धर्म की सीमा इतने में ही समाप्त नहीं है। जो भी कार्य दूसरे को सुख-शान्ति पहुँचाने वाला हो, वह सब दान के ग्रन्तर्गत ग्रा जाता है। भगवान् महावीर ने पुण्य की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि ग्रन्न, जल, धर्मशाला= ग्रतिथि-गृह, वस्त्र ग्रादि के दान से मनुष्य को स्वर्गादि सुख-दायक पुण्य की प्राप्ति होती है। दान का यह विवेचन उन लोगों की ग्राँखें खोलने के लिए है, जो यह कहते हैं कि—'जैन धर्म तो निष्क्रिय धर्म है। वह केवल ग्रपने तप ग्रौर त्याग की भावना में ही सीमित है। जन-कल्याण के लिए कोई क्रिया-त्मक उपदेश उसके पास नहीं है।' कोई भी विचारक देख सकता है कि यह दान का विस्तृत विवेचन जैन धर्म की सक्रि-

यता सिद्ध करता है या निष्क्रियता ? जन-कल्याण के क्षेत्र में जैन धर्म ने जो विचार-धारा दान के रूप में संसार के समक्ष रखी है, वह अपनी जोड़ में बेजोड़ है।

दान का विवेचन एक प्रकार से समाप्त किया जा चुका है। फिर भी एक दो प्रश्न ऐसे हैं, जिन पर विचार कर लेना अतीव आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि दान-धर्म उत्तम वस्तु है। परन्तु उसका अधिकारी केवल सुपात्र ही है। और वह सुपात्र और कोई नहीं, एक मात्र साधु ही है। अतएव साधु के अतिरिक्त किसी ग़रीब, दुःखी संसारी प्राणी को दान देना, अधर्म है, धर्म नहीं। संसारी जीव सब कुपात्र हैं। और कुपात्र का दान भव-भ्रमण का कारण है।

सुपात्र और कुपात्र

दान के सम्बन्ध में ऊपर का तर्क सर्वथा असंगत है। क्या सुपात्र एकमात्र साधु ही है, और कोई नहीं ? क्या गृहस्थ में रह कर सदाचारपूर्वक जीवन बिताने वाले सब लोग कुपात्र हैं ? सुपात्र का संबंध एकमात्र साधु से ही लगाना, शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करना है। कोई भी सदाचारी जीवन सुपात्र कहला सकता है। और फिर यह कहाँ का नियम है कि सुपात्र को ही दान देना, और किसी ग़रीब दीन-दुखी को नहीं ? भगवान् महावीर ने तो जैनत्व का यह मुख्य लक्षण माना है कि–"**दुःखी को देख कर मन में अनुकम्पा-भाव लाना और यथा-शक्य उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना।**" यह ठीकहै कि सुपात्र को दान देने का बहुत अधिक महत्त्व है। परन्तु जहाँ संकट-काल में किसी प्राणी को सहायता पहुँचाने का प्रश्न हो, वहाँ पात्र-अपात्र का विचार करना, किस महान् धर्म का सिद्धान्त है ? कम से कम जैन धर्म का हमें पता है, वहाँ तो यह अणुमात्र भी नहीं है। जैन-धर्म तो प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की भावना को लेकर भूमण्डल पर आया है। वह मानव-हृदय में

उठने वाली दया की लहर को किसी विशेष जाति, विशेष राष्ट्र, विशेष पंथ, विशेष सम्प्रदाय अथवा विशेष व्यक्ति के संकुचित क्षेत्र में आबद्ध नहीं करना चाहता। जो गरीब भाई तुम्हारे सम्मुख आकर एक रोटी के टुकड़े की आशा प्रकट करे और अपना हाथ फैलाए, क्या इस तरह उसने अपने आप को बहुत नीचे स्तर पर लाकर नहीं खड़ा कियाहै? क्या वह ग़रीब कुपात्र है? क्या भू-मण्डल पर किसी दुःखी को किसी सुखी से कुछ पाने का अधिकार नहीं है? अभाव ने गरीब को जिस दुरवस्था में डाला है, क्या हम उसे उसी दुःस्थिति में सड़ने दें? क्या यह मानवता होगी? नहीं, कदापि नहीं। दीन-दुःखी को दान देना, कभी भी किसी तरह भी असंगत नहीं कहा जा सकता।

एक अजीब तर्क

भूखे और गरीब प्राणियों को दान देने के विरोध में एक और तर्क है, जो बिल्कुल ही अजीब है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि- "लंगड़े, लूले, दरिद्र, कुष्ठी आदि को दान नहीं देना चाहिए। क्यों? इसलिए कि वह परमेश्वर का कोप-भाजन है, ईश्वर उसे उसके पापों का दण्ड दे रहा है। अस्तु उस पर दया लाकर सहायता पहुँचाना, एक प्रकार से भगवान् की आज्ञा का विरोध करना है। परमेश्वर जिसको पापी समझ कर सजा देता है, उसको अपनी प्राप्त सजा भुगतने देना ही उचित है।"

इन आवश्यकता से अधिक बुद्धिमानों ने मान लिया है कि ईश्वर सजा दे रहा है, और वह हमारे दान के द्वारा दखल देने से अप्रसन्न होगा, क्या दूर की सूझी है? ईश्वर मारता है तो तुम भी मारो, बड़े अच्छे सपूत कहलाओगे? जैन-दर्शन कहता है कि प्रथम तो ईश्वर किसी को दण्ड देता है, यही सिद्धान्त मिथ्या है। ईश्वर वीतराग है, राग-द्वेष से सर्वथा परे

है। उसे ऐसी क्या पड़ी है कि व्यर्थ ही विचारे जीवों को सताता फिरे ? ईश्वर को दण्डदाता मानना, पीड़ित प्राणियों के प्रति अपनी सहानुभूति और कर्त्तव्य की उपेक्षा करना है।

दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर दण्ड ही दे रहा हो, तब भी हमें सहायता करनी चाहिए। जैन धर्म तो यदि साक्षात् ईश्वर भी सामने आकर रोके, तब भी किसी दुःखी की सहायता करने से नहीं रुक सकता। मनुष्य को अपने हृदय में से उठने वाली मानवता की आवाज को सुनना चाहिए, फिर ईश्वर भले ही कुछ कहता रहे। क्या इस प्रकार ईश्वर की उपासना का यही फल है कि संसार में कोई गरीब के आँसू पोंछने वाला भी न रहे। सर्वत्र हाहाकार और अत्याचार का ही राज्य रहे। नहीं, जैनधर्म ऐसा कभी नहीं होने देगा। वह दीन-बन्धु है, अपना कर्त्तव्य हर हालत में अदा करेगा।

: १२ :

रात्रि-भोजन

जीवन के लिए भोजन आवश्यक है। बिना भोजन किए, मनुष्य का दुर्बल जीवन टिक नहीं सकता। आखिर, मनुष्य अन्न का कीड़ा जो ठहरा। परन्तु भोजन करने की भी एक सीमा है! जीवन के लिए भोजन है, न कि भोजन के लिए जीवन! खेद की बात है कि आज के युग में भोजन के लिए जीवन बन गया है। आज का मनुष्य भोजन पर मरता है। खाने-पीने के सम्बन्ध में प्राचीन नियम प्रायः सब भुला दिए गए हैं। जो कुछ भी अच्छा-बुरा सामने आता है, मनुष्य झटपट चट करना चाहता है। न मांस से घृणा है न मद्य से परहेज। न भक्ष्य का पता है, न अभक्ष्य का। धर्म की बात तो जाने दीजिए, आज तो भोजन के फेर में पड़कर अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं रखा जा रहा है।

आज का मनुष्य प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही खाने लगता है, और दिन-भर पशुओं की तरह चरता रहता है। घर पर खाता है, मित्रों के यहाँ खाता है, बाजार में खाता है। और तो क्या, दिन छिपते खाता है, रात को खाता है और बिस्तर पर सोते-सोते भी दूध का गिलास पेट में उँडेल लेता है। पेट है, या कुछ और! दिन रात इस गड्ढे की भरती होती रहती है, फिर भी संतोष नहीं।

भारत के प्राचीन शास्त्रकारों ने भोजन के सम्बन्ध में बड़े ही सुन्दर नियमों का विधान किया है। भोजन में शुद्धता, पवित्रता स्वच्छता और स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए, स्वाद का नहीं। मांस और शराब आदि अभक्ष्य पदार्थों से सर्वथा घृणा रखनी चाहिए। और वह शुद्ध भोजन भी भूख लगने पर ही खाना चाहिए। भूख के विना भोजन का एक कौर भी पेट में डालना, पापमय अन्न का भक्षण

करना है। भूख लगने पर भी दिन में दो-तीन वार से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए; और रात में भोजन करना तो कदापि उचित नहीं है।

जैन-धर्म में रात्रि-भोजन के निषेध पर बहुत बल दिया गया है। प्राचीन काल में तो रात्रि-भोजन न करना, जैनत्व की पहचान के लिए एक विशिष्ट लक्षण था। बात है भी ठीक। वह जैन कैसा, जो रात्रि में भोजन करे ? रात्रि-भोजन करने में जैन धर्म ने हिंसा का दोष बतलाया है।

बहुत से इस प्रकार के छोटे-छोटे सूक्ष्म जीव होते हैं, जो दिन में सूर्य के प्रकाश में तो दृष्टि में आ सकते हैं; परन्तु रात्रि में तो वे कथमपि दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। रात्रि में मनुष्य की आँखें निस्तेज हो जाती हैं। अतएव वे सूक्ष्म जीव भोजन में गिर कर जब दाँतों के नीचे पिस जाते हैं और अन्दर पेट में पहुँच जाते हैं; तो बड़ा ही अनर्थ करते हैं। जिस मनुष्य ने मांसाहार का त्याग किया है, वह कभी-कभी इस प्रकार मांसाहार के दोष से दूषित हो जाता है। बिचारे जीवों की व्यर्थ ही अज्ञानता से हिंसा होती है और अपना नियम भंग होता है। कितनी अधिक विचारने की बात है।

आज के युग में कुछ मनचले लोग तर्क किया करते हैं कि "रात्रि में भोजन करने का निषेध सूक्ष्म जीवों को न देख सकने के कारण ही किया जाता है न ? अगर हम दीपक जला लें और प्रकाश कर लें, फिर तो कोई हानि नहीं ?" उत्तर में कहना है कि दीपक आदि के द्वारा हिंसा से बचा नहीं जा सकता। दीपक, बिजली, और चन्द्रमा आदि का प्रकाश चाहे कितना ही क्यों न हो; परन्तु वह सूर्य के प्रकाश जैसा सार्वत्रिक, अखण्ड, उज्ज्वल और आरोग्य-प्रद नहीं है। जीव-रक्षा और स्वास्थ्य की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश ही सबसे अधिक उपयोगी है। और कभी-कभी तो यह देखा गया है कि दीपक

आदि का प्रकाश होने पर आस-पास के जीव-जन्तु और अधिक सिमट कर पास आ जाते हैं, फलतः भोजन करते समय उनसे बचना, बड़ा ही कठिन कार्य हो जाता है।

त्याग-धर्म का मूल सन्तोष में है। इस दृष्टि से भी दिन की अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ भोजन की प्रवृत्ति को भी समाप्त कर देना चाहिए, तथा सन्तोष के साथ रात्रि में पेट को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। ऐसा करने से भली-भाँति निद्रा आती है, ब्रह्मचर्य-पालन में भी सहायता मिलती है, और सब प्रकार से आरोग्य की वृद्धि होती है। जैन-धर्म का यह नियम, पूर्णतया आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि को लिए हुए है। शरीर-शास्त्र के ज्ञाता लोग भी रात्रि-भोजन को बल, बुद्धि और आयु का नाश करने वाला बतलाते हैं। रात्रि में हृदय और नाभि-कमल संकुचित हो जाते हैं, अतः भोजन का परिपाक अच्छी तरह नहीं हो पाता।

धर्म-शास्त्र और वैद्यक-शास्त्र की गहराई में न जाकर, यदि हम साधारण तौर पर होने वाली रात्रि-भोजन की हानियों को देखें, तब भी वह सर्वथा अनुचित ठहरता है। भोजन में कीड़ी (चिउँटी) खाने में आ जाए तो बुद्धि का नाश होता है, जूं खाई जाए तो जलोदर नामक भयंकर रोग हो जाता है, मक्खी पेट में चली जाए तो वमन हो जाता है, छिपकली खा ली जाए तो कोढ़ हो जाता है, शाक आदि में मिलकर बिच्छू पेट में चला जाए तो तालू वेध डालता है, बाल गले में चिपक जाए तो स्वर भंग हो जाता है; इत्यादि अनेक दोष रात्रि-भोजन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

रात्रि का भोजन, अंधों का भोजन है। एक दो नहीं हजारों ही दुर्घटनाएँ, देश में, रात्रि-भोजन के कारण होती हैं। सैकड़ों ही लोग अपने जीवन तक से हाथ धो बैठते हैं। उदाहरण के लिए मेवाड़ की एक घटना यहाँ दी जा रही है :—

मेवाड़ के भाटिया गाँव में एक राज-कर्मचारी के यहाँ पंडित जी महाराज भोजन बनाया करते थे। महाराज का नाम टीकाराम था। एक दिन रात्रि के समय भोजन में भिंडी का शाक बनाया गया। भिंडियाँ मसाला भर के समूची ही तवे पर बघारी गई थीं। अचानक छत से एक छिपकली तवे पर आ गिरी। तवा लाल सुर्ख धधक रहा था कि पड़ते ही छिपकली के प्राण नौ दो ग्यारह हो गए। क्षण भर में वह फूल कर भुरता बन गई और भिंडियों में मिल गई। राज-कर्मचारी भोजन करने बैठे तो पहली बार ही भिंडियों के साथ वह भुनी हुई छिपकली भी थाली में आ गई। पहले ही कौर में उसकी पूंछ हाथ में आई। राज-कर्मचारी आपे से बाहर हो गए। ब्राह्मण देवता पर गालियों की बौछार होने लगी—'हरामजादे! भिंडी का डंठल तक तुझसे नहीं तोड़ा गया।' दूसरे कौर में छिपकली के पैरों पर हाथ पड़ा। अब तो खाने वाले महाशय बड़े ही तमतमाये। दीपक मँगवाकर प्रकाश में देखा तो छिपकली नजर आई। उस दिन उनकी आँखें खुल गईं और रात्रि-भोजन का सदा के लिए त्याग कर दिया। दुर्भाग्यवश यदि वह छिपकली खाई जाती तो कितना अनर्थ होता?

किं बहुना, रात्रि-भोजन सब प्रकार से त्याज्य है। जैन-धर्म में तो इसका बहुत ही प्रबल निषेध किया गया है। अन्य धर्मों में भी इसे आदर की दृष्टि से नहीं देखा गया है। कूर्म-पुराण आदि वैदिक पुराणों में भी रात्रि भोजन का निषेध है। आज के युग के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गांधी भी रात्रि-भोजन को अच्छा नहीं समझते थे। लगभग ४० वर्ष से जीवन-पर्यन्त रात्रि-भोजन त्याग के व्रत का गांधी जी बड़ी दृढ़ता से पालन करते रहे। यूरोप गए तब भी उन्होंने रात्रि-भोजन नहीं किया। हाँ तो प्रत्येक जैन का कर्तव्य है कि वह रात्रि-भोजन का त्याग करे, न रात्रि में भोजन बनाए और न खाए।

: १३ :

मांसाहार

संसार में पापों की कोई गणना नहीं है। एक से एक भयंकर पाप हमारे सामने हैं। परन्तु मांसाहार का पाप बड़ा ही भयंकर तथा निन्दनीय है। मांसाहार मनुष्य के कोमल हृदय की कोमल भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर उसे पूर्णतया निर्दय और कठोर बना देता है। मांस किसी खेत में नहीं पैदा होता, वृक्षों पर नहीं लगता, आकाश से नहीं बरसता ; वह तो चलते-फिरते प्राणियों को मारकर उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब आदमी पैर में लगे एक कांटे का दर्द भी सहन नहीं कर सकता; रात-भर छटपटाता रहता है; तब भला दूसरे निरपराध मूक जीवों की गर्दन पर छुरी चला देना किस प्रकार न्याय-संगत हो सकता है ? जरा शान्त चित्त से ईमानदारी के साथ विचार कीजिए कि उनको कितना भयंकर दर्द होता होगा ! अपने क्षणिक जिह्वा के स्वाद के लिए दूसरे जीवों को मार कर लाश बना देना, कितना जघन्य आचरण है ! जब आदमी किसी को जीवन नहीं दे सकता तो उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरे का जीवन छीन ले !

आहार-विहार में होने वाली साधारण-सी हिंसा भी जब निन्दनीय मानी जाती है, तब स्थूल पशुओं की हत्या करना तो और भी भयंकर कार्य है। बधिक जब चमचमाता हुआ छुरा लेकर मूक पशुओं की गर्दन पर प्रहार करता है, तब वह दृश्य कितना भयङ्कर होता है ? सहृदय मनुष्य तो उस राक्षसी दृश्य को अपनी आँखों से देख भी नहीं सकता। खून की धारा बह रही हो, मांस का ढेर लग रहा हो, हड्डियाँ

इधर-उधर बिखर रही हों, रक्त से सने हुए चमड़े के खंड इधर-उधर बिखरे पड़े हों, और ऊपर से गीध, चील आदि पक्षी मँडरा रहे हों; इस घृणित दशा में, मनुष्य नहीं, राक्षस ही काम कर सकता है। यही कारण है कि यूरोप में तो ऊँचे प्रतिष्ठित जज कसाई की गवाही भी नहीं लेते हैं। उनकी दृष्टि में कसाई इतना निर्दय हो जाता है कि वह मनुष्य ही नहीं रह पाता। हृदयहीन निर्दय मनुष्य में मनुष्यता रह भी कहाँ सकती है ?

जैन-धर्म में मांसाहार का बड़ी ही दृढ़ता से विरोध किया गया है। करुणा के प्रत्यक्ष अवतार भगवान महावीर ने मांसाहार को दुर्व्यसनों में माना है और इसे नरक का कारण बताया है। स्थानांग-सूत्र के चौथे स्थान में कथन किया है कि **"चार कारण से प्राणी नरक में जाता है—(१) महा आरम्भ करने से (२) महापरिग्रह रखने से (३) पंचेन्द्रियजीवों का वध करने से (४) मांस भक्षण करने से।** एक आचार्य ने तो मांस शब्द की व्युत्पत्ति ही बड़ी हृदयस्पर्शी ढंग से की है। मांस शब्द में दो अक्षर हैं, 'मां' और 'स'। 'मां' का अर्थ 'मुझको' होता है और 'स' का अर्थ 'वह' होता है। दोनों अक्षरों का मिलकर यह निष्कर्ष निकलता है कि **'जिसको मैं यहाँ मारकर खाता हूँ, वह मुझे भी कभी मारकर खाएगा।'** मांसाहारी लोग इस अर्थ का विचार करें और मांसाहार का त्याग करके अपने को भावी कष्टों से बचाएँ।

आजकल के कुछ नास्तिक विचार-धारा के लोग तर्क करते हैं कि "मनुष्य अन्न खाता है, हजारों गेहूँ आदि के दाने पीस कर पेट में डाल लेता है, क्या इसमें हिंसा नहीं होती ? बकरे आदि के मारने में तो एक जीव की हिंसा होती है, परन्तु अन्न खाने में तो हजारों जीवों की हिंसा हो जाती है।" उत्तर में कहना है कि—'गेहूं आदि की बुनियाद आबी और

बकरे की बुनियाद पेशाबी है। गेहूँ अव्यक्त चेतना वाला जीव है और बकरा व्यक्त चेतना वाला। बकरे को मारने वाले के भाव प्रत्यक्षतः क्रूर, निर्दय और घातकी होते हैं; जबकि गेहूँ पीसने वाले के ऐसे नहीं होते। अस्तु, बकरे की अन्न के दानों से तुलना करना, अज्ञानता नहीं तो और क्या है ? मांस जैसी अपवित्र, घृणित, तामसी चीज़ की सात्विक अन्न से तुलना कभी हो ही नहीं सकती।

मांस खाना मानव-प्रकृति के भी सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी प्राणी है, मांसाहारी नहीं। शाकाहारी और मांसाहारी प्राणियों की बनावट में भारी अन्तर होता है। मांसाहारी पशुओं के नाखून पैने, नुकीले होते हैं, जैसे कुत्ता, बिल्ली, सिंह आदि के। और शाकाहारी पशुओं के पैने नहीं होते, जैसे हाथी, गाय, भैंस आदि के। मांसाहारी पशुओं के जबड़े लम्बे होते हैं, जबकि शाकाहारियों के गोल। गाय और कुत्ते के जबड़ों को देखने से यह भेद साफ मालूम हो जाएगा। मांसाहारी जीव पानी जीभ से चपल-चपल कर पीते हैं और शाकाहारी ओंठ टेक कर। गाय, भैंस, बन्दर तथा सिंह, बिल्ली, कुत्ता आदि को देखने से यह सब भेद स्पष्ट हो जाता है। आज के विज्ञान ने सोलह आने सिद्ध कर दिया है कि बन्दर तथा लंगूर एकदम शाकाहारी प्राणी हैं। जीवनभर ये फल-फूल आदि पर गुजारा करते हैं। मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य बनावट भी हूबहू बन्दर तथा लंगूर से मिलती-जुलती है। अतः मनुष्य भी नितान्त शाकाहारी प्राणी है। मांसाहार की आदत उसने बाह्य विकृति से प्राप्त करली है, वह उसकी मूल प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती।

आर्थिक दृष्टि से भी मांसाहार देश के लिए घातक ठहरता है। गाय, भैंस, बकरी आदि देश के लिए बड़े ही उपयोगी पशु हैं। मांसाहारियों द्वारा इनका संहार करना कितना

भयंकर है, ज़रा ध्यान से देखने योग्य है।

उदाहरण के लिए गाय को ही ले लीजिए। गाय से हमें दूध, दही, घी, बैल, गोबर आदि मिलते हैं। एक गाय की पूरी पीढ़ी से चार लाख, बहत्तर हजार, छः सौ मनुष्यों को सुख पहुँचता है। जीव-विज्ञान-विशारदों ने गहरी छान-बीन के पश्चात् हिसाब लगाया है कि गोवंश में से प्रत्येक गाय के दूध का मध्य मान ग्यारह सेर का आता है। उसके दूध देने के समय का औसत बारह महीने रहता है। अस्तु, प्रत्येक गाय के जन्म भर के दूध से २४९६० (चौबीस हजार, नौ सौ, साठ) मनुष्यों की एक बार में तृप्ति होती है। मध्य मान के नियमानुसार प्रत्येक गाय से छह बछिया और छह बछड़े मिल पाते हैं। इनमें से यदि एक एक मर भी जाए तो, पाँच बछियों के जीवन-भर के दूध से १२४८०० (एक लाख,-चौबीस हज़ार, आठ सौ) मनुष्य एक बार तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पाँच बैल। अपने जीवन-काल में, मध्य मान के अनु-सार; कम से कम ५००० (पाँच हज़ार) मन अनाज पैदा कर सकते हैं। यदि प्रत्येक आदमी एक बार में तीन पाव अनाज खाए तो उससे साधारणतया ढाई लाख आदमियों की एक बार में उदर-पूर्ति हो सकती है। बछियाओं के दूध और बैलों के अन्न को मिला देने से ३७४८०० (तीन लाख, चौहत्तर हज़ार, आठ सौ) मनुष्यों की भूख एक बार में बुझ सकती है। दोनों संख्याओं को मिलाकर एक गाय की पीढ़ी में ४७५६९० (चार लाख, पचहत्तर हज़ार, छः सौ, नव्वै) मनुष्य एक बार में पालित हो जाते हैं।

इतना ही नहीं, बैलों से गाड़ियाँ चलती हैं, उनसे सवारी का काम लिया जाता है, भार उठाने के काम में भी वे आते हैं। यही कारण है कि भारतीय लोगों ने गाय को 'माता' तक कह कर पुकारा है।

इसी प्रकार एक बकरी के जन्म भर के दूध से भी २५९-२० (पच्चीस हज़ार, नौ सौ, बीस) आदमियों का परिपालन एक बार हो सकता है। हाथी, घोड़े, ऊँट, भेड़ आदि प्राणियों से भी इसी प्रकार अनेकों उपकार मनुष्य के लिए होते रहते हैं। अतएव इन उपकारी पशुओं को जो लोग खुद मारने तथा दूसरों से मरवाने का काम करते हैं, उनको सारे मानव-समाज की हत्या करने वाला ही समझना चाहिए।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांस निषिद्ध वस्तु है। प्रायः मांसाहार से कैंसर, क्षय, पायोरिया, गठिया, सिर-दर्द, मृगी, उन्माद, अनिद्रा, लकवा, पथरी आदि भयंकर रोगों का आक्रमण होता है। शारीरिक बल और मानसिक-प्रतिभा पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में यूरोप के ब्रुसेल्स विश्व-विद्यालय आदि में जो वैज्ञानिक परीक्षण हुए हैं, उनमें भी मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी ही श्रेष्ठ प्रमाणित हुए हैं।

कहा जाता है—दश हजार विद्यार्थी उपर्युक्त परीक्षण में सम्मिलित हुए थे। इनमें पाँच हज़ार को केवल फल, फ़ूल, अन्न आदि शाकाहार पर और पाँच हज़ार को मांसाहार पर रखा था। छह महीने बाद जाँच करने पर मालूम हुआ कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी सब बातों में तेज़ रहे। शाकाहारियों में दया, क्षमा, प्रेम आदि गुण प्रकट हुए और मांसाहारियों में क्रोध, क्रूरता, भीरुता आदि। मांसाहारियों से शाकाहारियों में बल, सहन-शक्ति आदि गुण भी विशेष रूप में पाए गए। शाकाहारियों में मानसिक शक्ति का विकाश भी अच्छा हुआ।

किं बहुना, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से मांसाहार सर्वथा हेय है। जो मनुष्य-मनुष्य कहलाने का अधिकारी है, उसे तो मांसभक्षण का सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

: १४ :

आदर्श साधु

आत्म-शान्ति और सिद्धि की शोध में,
ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाशमान प्रदीप लेकर
आत्मा से परमात्मा बनने के पथ पर
अग्रसर हुए पूज्य साधु !
दुनिया की ऋद्धि को त्यागकर
परलोक की सिद्धि के अमर साधक !
आपको वन्दन हो ! कोटि-कोटि वन्दन हो !

❀ ❀ ❀

संसार के क्षेत्र में,
संस्कारी वातावरण का सर्जन कर
साधना के शिखर पर
जो वेगवती गति से बढ़ रहा है,
वही है सच्चा साधु !

❀ ❀ ❀

परम तत्त्व की खोज में
ज्ञान और क्रिया का अवलंबन लेकर
आत्मा की पूर्ण शक्ति से दौड़ लगाने वाला
वही सच्चा साधु !

❀ ❀ ❀

साधु अर्थात् समभाव का साधक,
जिसकी साधना का अन्तिम फल 'सिद्धत्व' हो,
वही आदर्श साधु !

❀ ❀ ❀

आत्म-दर्शन,
जिसके जीवन का नित्य रटन हो;

रत्नत्रय का सदाचरण,
जिसका सच्चा साधन हो;
आत्म-स्वरूप में,
जिसका प्रतिदिन रमण हो !
और विकार-मुक्ति ही
जिसकी जीवन-यात्रा का अन्तिम विश्राम केन्द्र हो;
वही आदर्श साधु !

❀ ❀ ❀

आदर्श साधु,
क्षमा की जीवित मूर्ति हो !
उसके शान्त हृदय में,
क्रोध की कभी एक रेखा भी प्रकट न हो !
चारों ओर शांति और सरलता झलके !
क्षमा के शान्ति मन्त्र पढ़कर
जो जगत् में से कलह और क्षोभ का रोग हरने वाला
महान् धन्वन्तरि बने,
और जिसके सत्संग में
आत्मतत्त्व के शोध की बलवती क्षुधा जागृत हो,
वही आदर्श साधु !

❀ ❀ ❀

सुन्दर अप्सरा हो अथवा कुरूप कुब्जा,
दोनों ही जिसकी दृष्टि में केवल काठ की पुतली हैं !
कंचन और कामिनी का सच्चा त्यागी
लोभ और मोह के विषाक्त बाण से बिंधे नहीं !
सम्राटों का भी सम्राट्
और चक्रवर्तियों का भी चक्रवर्ती,
अन्तर्जीवन की विपुल अध्यात्म-समृद्धि के
अक्षय कोष का एकमात्र स्वतन्त्र स्वामी,

वही आदर्श साधु !

❀ ❀ ❀

पाप के फल से नहीं,
किन्तु पाप की वृत्ति से ही मुक्ति चाहता है !
दुरंगी दुनिया के मोहक शब्दों की अपेक्षा
आत्मा की अन्तर्ध्वनि को बहुमान देकर चलता है !
अपने सबल और स्वतन्त्र विचारों से
नया युग, नया वातावरण प्रगटाता है !
अपने सरल, श्रद्धामय और निष्पाप जीवन से
मानव-समाज को जीवन का सच्चा मर्म बताता है !
वही आदर्श साधु !

❀ ❀ ❀

संकट के क्षणों में जो भागता नहीं है,
किन्तु संकटों का शोधन करता है !
आध्यात्मिक शक्ति के बल से
संकटों पर आधिपत्य स्थापित करता है !
जगत् के विष को शान्तिपूर्वक पीकर बदले में
प्रसन्न मुखमुद्रा से अमृत की वृष्टि करता है !
'शठं[१] प्रति शाठ्यं कुर्यात्' के स्थान पर
'शठं[२] प्रति भद्रं कुर्यात्' का मुद्रा लेख लेकर
पत्थर फेंकने वाले पर भी पुष्प वृष्टि करता है !
गाली देने वाले को भी आशीर्वाद देता है !
और
अपकार का बदला उपकार से देकर
अपनी पूर्ण भव्यता का दर्शन कराता है !

---

१ दुर्जन के प्रति दुर्जनता।
२ दुर्जन के प्रति भी सज्जनता।

वही आदर्श साधु !

❀ ❀ ❀

जिसकी अहिंसात्मक अमृत दृष्टि जंगल में भी मंगल करे,
ज़हर को भी अमृत में बदल दे,
अर्थात् शत्रु को भी मित्र बनाले,
वही आदर्श साधु !

❀ ❀ ❀

पापी को नहीं,
किन्तु जो पापमय मनोदशा को धिक्कारता है;
जिसके धिक्कार में भी प्रेम हो;
जिसके धिक्कार में से भी स्नेहरस झरता हो;
जिसके स्नेह की शीतल धारा
द्वेष के धधकते दावानल को भी बुझा दे,
जिसके प्रेम का जादू
पापी के कठोरतम अन्तर को भी पिघला दे;
वही आदर्श साधु !

['आदर्श साधु' के आधार पर]

: १५ :

जैन-धर्म की प्राचीनता

जैन धर्म के आविर्भाव-सम्बन्धी काल का पता लगाने के लिए, आज से नहीं, सैकड़ों वर्षों से विद्वानों की दौड़-धूप होरही है। इस सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ हैं, कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ कहता है। कल्पनाओं के सहारे दौड़ने का कहीं निश्चित अन्त नहीं हो पाता।

स्वामी दयानन्दजी और उनकी कोटि के बहुत से अन्य विद्वान जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म की शाखा समझते हैं और कहते हैं कि बौद्ध धर्म के कुछ दिनों बाद ही जैन-धर्म का अभ्युदय हुआ।

कुछ विद्वान् जैन धर्म को बौद्ध धर्म से स्वतन्त्र धर्म तो मान लेते हैं; परन्तु इसके मूल संस्थापक के रूप में अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व होने वाले भगवान् महावीर को मानते हैं।

कुछ लोग उनसे भी पूर्व होने वाले तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ को जैन धर्म का आदि प्रवर्तक मानते हैं।

हम यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही उक्त सब भ्रान्तियों का निराकरण करके जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करेंगे।

बौद्ध-धर्म को जैन-धर्म की शाखा कहना तो इतिहास की सब से बड़ी अज्ञानता है। बौद्ध-साहित्य के अध्ययन करने से स्पष्टतः पता लगता है कि भगवान् बुद्ध के समय में जैन-धर्म काफी ऊँचे गौरव पर था। भगवान् पार्श्वनाथ जैन-धर्म के तेईसवें तीर्थंकर हुए हैं, जिनका काल भगवान् महावीर स्वामी से करीब अढ़ाई सौ वर्ष पहले पड़ता है। इनका उल्लेख बौद्धधर्म के मूल ग्रन्थों में प्रायः बहुत से स्थानों पर मिलता है। आज के

बहुत से तटस्थ इतिहासकार भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि तथागत बुद्ध ने अपनी विचारधारा में बहुत-सा अंश अपने से पहले होने वाले भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म-चिन्तन से लिया है। यही कारण है कि जिन, श्रावक, भिक्षु आदि जैन-पम्परा के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बौद्ध-साहित्य में प्रचुरता से मिलता है

भगवान् ऋषभदेव, वर्तमान काल-चक्र में जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। आपके पिता का नाम नाभि और माता का नाम मरुदेवी था। आपके सबसे बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष प्रख्यात हुआ। वैष्णव धर्म के महान् प्राचीन ग्रंथ भागवत में भी श्री ऋषभदेव का चरित्र बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है और कहा है कि श्री ऋषभदेव अर्हन् का अवतार रजोगुण-व्याप्त मनुष्यों को मोक्ष-मार्ग सिखलाने के लिए हुआ था।

'अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः।'

—भाग० स्कन्ध ५ अध्याय ६

भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों में ऋग्वेद का भी महत्वपूर्ण स्थान है। सर राधाकृष्णन् जैसे महान् दार्शनिक विद्वानों ने वेदों का गम्भीर अध्ययन किया है और उनको वहाँ श्री ऋषभदेव का वर्णन स्पष्टतः उपलब्ध हुआ है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद पर ही सर्वप्रथम दृष्टिपात कीजिए:—

आदित्या त्वगसि आदित्य सद आसीद,
अस्तभ्रादघां वृषभो तरिक्षं जमिमीते वरिमाणम्।
पृथिव्या आसीत् विश्वा भुवनानि,
सम्राड् विश्वे तानि वरुणस्य वचनानि॥

—ऋग्वेद, मं० ३० अ० ३

उक्त मंत्र का यह भावार्थ है—'तू अखण्ड पृथ्वी-मण्डल का सार त्वचारूप है, पृथ्वीतल का भूषण है, दिव्य-ज्ञान द्वारा

आकाश को नापता है, हे ऋषभनाथ सम्राट् इस संसार में जग-रक्षक-व्रतों का प्रचार करो।'

पुराणों में शिवपुराण का एक विशिष्ट स्थान माना जाता है। भगवान् ऋषभदेव का वहाँ भी अतीव गौरव-पूर्ण उल्लेख है—

कैलाशे पर्वते रम्ये,
वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारं च,
सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥५६॥

अर्थात् 'विश्व का कल्याण करने वाले सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान् ऋषभदेव कैलाश पर्वत पर मुक्ति को प्राप्त हुए।'

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जिनेश्वर शब्द जैन तीर्थंकर एवं अरिहन्त के लिए ही रूढ़ है। जैन साहित्य कहता है कि भगवान् ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत पर मोक्ष प्राप्त की।

भारतीय साहित्य में योगवाशिष्ठ एक महान् ग्रन्थ है। उक्त ग्रन्थ में महर्षि वशिष्ठ ने रामचन्द्रजी को धर्मोपदेश दिया है। देखिए, वहाँ कितना सुन्दर वर्णन मिलता है :—

नाहं रामो न मे वाञ्छा,
भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि,
स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

राम कह रहे हैं कि "मैं राम नहीं हूँ, मुझे किसी वस्तु की चाह नहीं है। मेरी अभिलाषा तो यही है कि जिनेश्वर की तरह अपनी आत्मा में शान्ति-लाभ प्राप्त करूँ।"

ऊपर के उद्धरण से प्रमाणित होता है कि जैन धर्म तथा जैन तीर्थंकरों का अस्तित्व मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र से भी पहले का है। इतिहासकारों की धारणा के अनुसार राम को हुए ११ लाख वर्ष हो चुके हैं।

भगवान् नेमिनाथ जैन धर्म के २२ वें तीर्थंकर हुए हैं।

आप श्रीकृष्ण के ताऊ के पुत्र भाई थे। यजुर्वेद में आपका उल्लेख इस प्रकार आया है—

वाजस्यनु प्रभव आवभूवे,
मा च विश्वभुवनानि सर्वतः।
स नेमिराजा परियाति विद्वान्,
प्रजां पुष्टिं वर्द्धमानो अस्मै स्वाहा॥

—अध्याय ६ मंत्र २५

अर्थात्—भाव यज्ञ को प्रगट करने वाले, संसार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान् होती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित है।

अब अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में आधुनिक विद्वानों के विचार भी अंकित किए देते हैं, ताकि जिज्ञासु पाठक निष्पक्ष दृष्टि से उचित निर्णय कर सकें।

प्राचीन इतिहास के सुप्रसिद्ध आचार्य प्राच्यविद्यामहार्णव श्री नगेन्द्रनाथजी वसु, अपने हिन्दी विश्व-कोष के प्रथम भाग में, पृष्ठ ६४ पर लिखते हैं—

'ऋषभदेव ने ही संभवतः लिपि-विद्या के लिए लिपि-कौशल का उद्भावन किया था। ऋषभदेव ने ही संभवतः ब्रह्म-विद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।'

लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलक अपने केसरी समाचार पत्र में लिखते हैं—

'महावीर स्वामी जैन धर्म को पुनः प्रकाश में लाए। इस बात को आज २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। बौद्ध-धर्म की स्थापना के पहले भी जैन-धर्म भारत में फैला हुआ था, यह बात विश्वास करने योग्य है। चौवीस तीर्थंकरों में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे, इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता जानी जाती है।'

महामहोपाध्याय डाक्टर शतीशचन्द्र जी विद्याभूषण, प्रिंसीपल संस्कृत कालेज कलकत्ता कहते हैं—

'जैन धर्म तब से प्रचलित है, जब से संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ है। मुझे इस में किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि वह वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।'

इतिहास-शास्त्र के सुप्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जर्मन विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी लिखते हैं—

'जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है और इसीलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्व-ज्ञान और धर्म-पद्धति के अध्ययन करने वालों के लिए वह बड़े महत्त्व की चीज है।'

स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल चक्रवर्ती राजगोपालाचार्यजी ने अपने एक प्रवचन में कहा है—

'जैन धर्म प्राचीन है और उसका विश्वास अहिंसा में है।'

: १६ :

जैन-जीवन

जैन भूख से कम खाता है।
जैन बहुत कम बोलता है।
जैन व्यर्थ नहीं हँसता है।
जैन बड़ों की आज्ञा मानता है।
जैन सदा उद्यमशील रहता है।

जैन ग़रीबी से नहीं शर्माता।
जैन धन पर नहीं अकड़ता।
जैन किसी पर नहीं झुँझलाता।
जैन किसी से छल कपट नहीं करता।
जैन सत्य के समर्थन से नहीं डरता।

जैन हृदय से उदार होता है।
जैन हित-मित-मधुर बोलता है।
जैन संकट सहता हुआ भी हँसता है।
जैन अभ्युदय में भी नम्र रहता है।

अज्ञानी को जीवन-निर्माणार्थ ज्ञान देना मानवता है।
ज्ञान के साधन विद्यालय आदि खोलना मानवता है।

भूखे-प्यासे को सन्तुष्ट करना मानवता है।
भूले हुए को मार्ग बताना मानवता है।

जहाँ विवेक होता है, वहाँ प्रमाद नहीं होता।
जहाँ विवेक होता है, वहाँ लोभ नहीं होता।

जहाँ विवेक होता है, वहाँ स्वार्थ नहीं होता ।
जहाँ विवेक होता है, वहाँ अज्ञान नहीं होता ।

प्रतिदिन विचार करो कि, मन से क्या-क्या दोष हुए हैं ?
प्रतिदिन विचार करो कि, वचन से क्या-क्या दोष हुए हैं ?
प्रतिदिन विचार करो कि, शरीर से क्या-क्या दोष हुए हैं ?

सुख का मूल धर्म है ।
धर्म का मूल दया है ।
दया का मूल विवेक है ।

विवेक से उठो ।
विवेक से चलो ।
विवेक से बोलो ।
विवेक से खाओ ।
विवेक से सब काम करो ।

पहनने-ओढ़ने में मर्यादा रखो ।
घूमने-फिरने में मर्यादा रखो ।
सोने-बैठने में मर्यादा रखो ।
बड़े छोटे की मर्यादा रखो ।

मन से दूसरे का भला चाहना परोपकार है ।
वचन से दूसरे को सुख पहुँचाना परोपकार है ।
शरीर से दूसरे की सहायता करना परोकार है ।
धन से किसी का दुःख दूर करना परोपकार है ।
भूखे-प्यासे को सन्तुष्ट करना परोपकार है ।
भूले हुए को मार्ग बताना परोपकार है ।
अज्ञानी को ज्ञान देना, या दिलाना परोपकार है ।

ज्ञान के साधन विद्यालय आदि खोलना परोपकार है।
लोक-हित के कार्यों में सहर्ष सहयोग देना परोपकार है।

बिना परोपकार के जीवन निरर्थक है।
बिना परोपकार के दिन निरर्थक है।

जहाँ परोपकार नहीं, वहाँ मनुष्यत्व नहीं।
जहाँ परोपकार नहीं, वहाँ धर्म नहीं।

परोपकार की जड़ कोमल हृदय है।
परोपकार का फल विश्व-अभय है।

परोपकार कल करना हो तो आज करो।
परोपकार आज करना हो तो अब करो।

बिना धन के भी परोपकार हो सकता है।
किन्तु बिना मन के परोपकार नहीं हो सकता है।

धन का मोह परोपकार नहीं होने देता।
शरीर का मोह परोपकार नहीं होने देता।

परोपकार करने के लिए धनी होने की राह देखे, वह मूर्ख है।
बदले की आशा से जो परोपकार करे, वह मूर्ख है।
बिना स्नेह और प्रेम के परोकार करे, वह मूर्ख है।

भोजन के लिए जीवन नहीं, किन्तु जीवन के लिए भोजन है।
धन के लिए जीवन नहीं, किन्तु जीवन के लिए धन है।

धन से जितना अधिक मोह, उतना ही पतन।
धन से जितना कम मोह, उतना ही उत्थान।

: १७ :

हिंसा

किसी जीव को सताना, हिंसा है ।
झूठ बोलना, कटु बोलना हिंसा है ।
दंभ करना, धोखा देना हिंसा है ।
किसी की चुगली करना हिंसा है ।

किसी का बुरा चाहना हिंसा है ।
दुःख होने पर घबराना हिंसा है ।
सुख में फ़ल कर अकड़ना हिंसा है ।
किसी की निंदा और बुराई करना हिंसा है ।

गाली देना हिंसा है ।
अपनी बडाई हाँकना हिंसा है ।
किसी पर कलंक लगाना हिंसा है ।
झिड़कना, भद्दा मजाक करना हिंसा है ।

किसी पर अन्याय होते देखकर खुश होना हिंसा है ।
शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना हिंसा है ।
आलस्य और प्रमाद में निष्क्रिय पड़े रहना हिंसा है ।
अवसर आने पर भी सत्कर्म से जी चुराना हिंसा है ।

बाँट कर नहीं, अकेले खाना हिंसा है ।
इन्द्रियों का गुलाम रहना हिंसा है ।
दबे हुए कलह को उखाड़ना हिंसा है ।
किसी की गुप्त बात को प्रकट करना हिंसा है ।

किसी को नीच-अछूत समझना हिंसा है ।
शक्ति होते हुए सेवा न करना हिंसा है ।
बड़ों की विनय भक्ति न करना हिंसा है ।
छोटों से स्नेह, सद्भाव न रखना हिंसा है ।

ठीक समय पर अपना फ़र्ज़ अदा न करना हिंसा है ।
सच्ची बात को किसी बुरे संकल्प से छिपाना हिंसा है ।
दुनियाँ के आल-जंजाल में तन्मय रहना हिंसा है ।

: १८ :

जैन-संस्कृति की अमर देन

[अ हिं सा]

जैन-संस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्व-श्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है, और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं; एक दिन जैन-संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा-काण्ड में सर्वतोभावेन रत उन्मत्त संसार के सामने रखा गया था।

जैन-संस्कृति का महान् संदेश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे आस-पास के संगी-साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है, या जिनको देना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा, अर्थात् जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक बार ही नहीं, हज़ार बार कहा जा सकता है, कि नहीं हो सकता। एक दूसरे का आपस में अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो मामूली-सा ही है। यदि अन्तर्निरीक्षण किया जाए तो प्रकृति, दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःखों को हटा ले, तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

जैन-संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है। उनका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व-भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जँचा दो कि वह 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है, दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित होना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना।

हाँ तो जब तक नदी अपने पाट में प्रवाहित होती रहती है, तब तक उससे संसार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं। ज्यों ही वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ़ का रूप धारण करती है, तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सबके सब मनुष्य अपने-अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं, तब तक कुछ अशांति नहीं है। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर क़ब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन-साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भग-

वान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है, अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनों का सहारा लेकर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह कर रखना, जैन-संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की, जीवन के सुख साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूँढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

आत्म-रक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना, जैन धर्म के विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं संगठित शक्ति अवश्य ही संहार-लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों से जो शस्त्र-संन्यास का आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा है, वह जैन तीर्थंकरों ने हज़ारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून के द्वारा, पारस्परिक संविधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनों वह उपदेशों द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े राजाओं को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम कराया गया था

कि वे राष्ट्र-रक्षा के काम में आने वाले शस्त्रों से अधिक शस्त्र-संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है। प्रभुता की लालसा में आकर वह कभी-न-कभी किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव-संसार में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठ-पुतली बनकर युद्ध का उन्मुक्त समर्थन करते आए हैं, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग का लालच दिखाते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में काफी कठोर रहे हैं। "प्रश्न व्याकरण" और "भगवती सूत्र" युद्ध के विरोध में क्या कुछ कहते हैं? यदि थोड़ा-सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे, तो आप वहाँ बहुत-कुछ युद्ध-विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते हैं, मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान महावीर का कितना अधिक उत्कृष्ट भक्त था? "औपपातिक सूत्र" में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल-समाचार जान कर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है! परन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान ने ज़रा भी समर्थन नहीं किया। प्रत्युत नरक का अधिकारी बताकर उसके पाप-कर्मों का स्पष्ट ही घट-स्फोट कर दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है, किन्तु भगवान महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला, पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे?

जैन तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट अहिंसा आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रिय-रूप नहीं है। वे अहिंसा का अर्थ प्रेम, परोपकार

एवं विश्व-बन्धुत्व करते हैं। स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो, जैन तीर्थंकरों का आदर्श यहीं तक सीमित नहीं है। उनका आदर्श है—दूसरों के जीने में मदद करो। बल्कि अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्व नहीं देते, जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रहकर एक मात्र भक्ति-वाद के अर्थ--शून्य क्रिया--काण्डों में ही उलझा रहता है।

भगवान् महावीर ने तो एक बार यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुःखितों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मैं उन पर प्रसन्न नहीं, जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं। मैं उन पर प्रसन्न हूँ, जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है—'**प्राणिमात्र को सुख,सुविधा. और आराम पहुँचाना**।' भगवान् महावीर का यह महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने है, यदि हम थोड़ा-बहुत सत्प्रयत्न करना चाहें। ऊपर के सन्देश का सूक्ष्म बीज यदि हममें से कोई देखना चाहे तो 'उत्तराध्ययन-सूत्र' की सर्वार्थ-सिद्धि-वृत्ति में देख सकता है।

अहिंसा के अग्रगण्य सन्देशवाहक भगवान महावीर हैं। आज दिन तक उन्हीं के अमर सन्देशों का गौरव-गान गाया जा रहा है। आपको मालूम है, आज से अढाई हजार वर्ष पहले का समय, भारतीय संस्कृति के इतिहास में, एक प्रगाढ अंधकारपूर्ण युग माना जाता है? देवी-देवताओं के आगे पशु-बलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं, मांसाहार और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में पिस रहे थे। स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपों में सब ओर हिंसा का एक छत्र साम्राज्य छाया हुआ था। भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया, जिससे

भारत की काया पलट होगई। मनुष्य राक्षसी दुर्भावों से हटकर मनुष्यता की सीमा में प्रविष्ट हुआ। क्या मनुष्य, क्या पशु, सबके प्रति उसके हृदय में प्रेम का सागर उमड़ पड़ा। अहिंसा के संदेश ने सारे मानवीय सुधारों के महल खड़े कर दिए। दुर्भाग्य से आज वे महल फिर गिर रहे हैं। जल, थल, नभ अभी-अभी खून से रंगे जा चुके हैं, और भविष्य में इससे भी भयंकर रंगने की तैयारियाँ हो रही हैं। तीसरे महायुद्ध का दुःस्वप्न अभी देखना बंद नहीं हुआ है। परमाणु बम के आविष्कार की सब देशों में होड़ लग रही है। सब ओर अविश्वास और दुर्भाग्य चक्कर काट रहे हैं। अस्तु आवश्यकता है, आज फिर जैन-संस्कृति के, जैन तीर्थंकरों के, भगवान महावीर के, जैनाचार्यों के 'अहिंसा परमो धर्मः' की। मानव जाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एक-मात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है, और कोई नहीं।

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।"

: १९ :

जैन धर्म की आस्तिकता

मनुष्य जब साम्प्रदायिकता के रंग में रंग कर अपने मत का समर्थन और दूसरे मतों का खण्डन करने लगता है, तब वह कभी-कभी बहुत भयंकर रूप धारण कर लेता है। किसी विषय में मतभेद होना उतना बुरा नहीं है, जितना कि मतभेद का घृणास्पद रूप बुरा होता है। भारतवर्ष में यह सांप्रदायिक मतभेद इतना उग्र, कटु एवं विषाक्त हो गया है कि हमारी सम्पूर्ण राष्ट्रीय शक्ति, इसके कारण छिन्न-भिन्न हो गई है।

हिंदू, मुसलमानों को म्लेच्छ कहते हैं और मुसलमान, हिन्दुओं को काफिर कहते हैं। इसी प्रकार वैष्णव आदि जैन-धर्म को नास्तिक कहते हैं। मतलब यह कि जिसके मन में जो आता है, वही आँख बन्द कर अपने विरोधी संप्रदाय को कह डालता है। इस बात का जरा भी विचार नहीं किया जाता कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह कहाँ तक सत्य है? इसका क्या परिणाम निकलेगा? किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना कहाँ तक न्याय-संगत है?

आज हम इसी बात पर विचार करेंगे कि जैन-धर्म को जो लोग नास्तिक-धर्म कहते हैं; वे सत्य का कहाँ तक सम्मान करते हैं? जैन-धर्म पूर्ण आस्तिक धर्म है। उसे नास्तिक धर्म कहना, सूर्य्य में कालिमा का धब्बा बताना है।

ब्राह्मण सम्प्रदाय, जैन-धर्म को नास्तिक क्यों कहने लगे? इसका भी एक इतिहास है। ब्राह्मण धर्म में जब यज्ञ-याग आदि का प्रचार हुआ और धर्म के नाम पर दीन-हीन मूक पशुओं का हनन प्रारम्भ हुआ; तब भगवान महावीर ने इस अंध-विश्वास का जोरदार खण्डन किया। यज्ञ-याग आदि के समर्थन में आधार-

भूत ग्रन्थ वेद थे, अतः वेदों को भी अप्रामाणिक सिद्ध किया गया। इस पर ब्राह्मण संप्रदाय में बड़ा क्षोभ हुआ। जैन-धर्म की अकाट्य तर्कों का तो कोई उत्तर दिया नहीं गया, केवल यह कह कर शोर मचाया जाने लगा कि जो वेदों को नहीं मानते हैं, जो वेदों की निन्दा करते हैं, वे नास्तिक हैं—"**नास्तिको वेद-निन्दकः**"—मनुस्मृति। तब से लेकर आज तक जैन-धर्म पर यही निरर्गल आक्षेप लगाया जा रहा है। तर्क का उत्तर तर्क से न देकर गाली गलौज करना, मतान्धता का परिचायक है।

कोई भी तटस्थ बुद्धिमान् विचारक कह सकता है कि यह सत्य के निर्णय करने की कसौटी नहीं है। यह तो भटियारनों की लड़ाई है, जो लड़ती हुई परस्पर एक दूसरी को कहा करती हैं कि **तू रांड़ है, तू निपूती है, तू चुड़ैल है**' आदि-आदि।' वैदिक-धर्मावलम्बी जैन-धर्म को वेदनिन्दक होने के कारण यदि नास्तिक कह सकते हैं, तो फिर जैन भी वैदिक धर्म को जैन-निन्दक होने के कारण नास्तिक कह सकते हैं—'**नास्तिको जैन-निन्दकः**।' परन्तु यह कोई अच्छा मार्ग नहीं है। यह कौनसा न्याय है कि ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थों को न मानने वाला नास्तिक कहलाए और जैन-धर्म के ग्रंथों को न मानने वाला नास्तिक न कहलाए? सच तो यह है कि कोई भी धर्म अपने से विरुद्ध किसी अन्य धर्म के ग्रन्थों को न मानने मात्र से नास्तिक नहीं कहला सकता। यदि ऐसा है तो फिर सभी धर्म नास्तिक हो जायँगे, क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि सभी धर्म एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं। दुःख है कि आज प्रगतिशील युग में भी इन लचर दलीलों से काम लिया जा रहा है और व्यर्थ ही सत्य की हत्या कर एक दूसरे को नास्तिक कहा जा रहा है।

जैन-धर्म को वेदों से कोई द्वेष नहीं है। वह किसी द्वेष-वश वेदों की निन्दा नहीं करता है। जैन-धर्म जैसा समभाव

का पक्षपाती तो दूसरा कोई धर्म नहीं है। वह तो विरोधी से विरोधी के सत्य को भी मस्तक झुका कर स्वीकार करने के लिए तैयार है। आप कहेंगे, फिर वेदों का क्यों विरोध किया जाता है ? वेदों का विरोध इसलिए किया जाता है कि वेदों में अजमेध, अश्वमेध, आदि हिंसामय यज्ञों का विधान है और जैन-धर्म हिंसा का प्रचण्ड विरोधी है। फिर धर्म के नाम पर किए जाने वाले निरीह पशुओं का वध तो वह तलवारों की छाया के नीचे भी सहन नहीं कर सकता।

जैन-धर्म को नास्तिक कहने के लिए आजकल एक और कारण बताया जाता है। वह कारण बिल्कुल ही बेसिर-पैर का है। लोग कहते हैं कि 'जैन-धर्म परमात्मा को नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है।' हम पूछना चाहते हैं—लोगों को यह कहाँ से पता चला कि जैन-धर्म परमात्मा को नहीं मानता। परमात्मा के सम्बन्ध में जैन-धर्म की अपनी एक निश्चित परिभाषा है। जो आत्मा राग-द्वेष से सर्वथा रहित हो, जन्म-मरण से सर्वथा अलग हो, केवल ज्ञान और केवल दर्शन का धारक हो, न शरीर हो, न इन्द्रियाँ हों, न कर्म हो, न कर्म-फल हो; वह अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा परमात्मा है। जैन-धर्म इस प्रकार वीतराग परमात्माको मानता है। वह प्रत्येक आत्मा में इसी परमात्म-प्रकाश को छुपा हुआ देखता है और कहता है कि हर कोई साधक वीतराग भाव की उपासना के द्वारा परमात्मा का पद पा सकता है। अब बताइए, जैन-धर्म परमात्मा को कैसे नहीं मानता ?

हमारे वैदिक-धर्मावलम्बी मित्र कह सकते हैं कि 'परमात्मा का जैसा स्वरूप हम मानते हैं, वैसा जैन-धर्म नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है।' यह तर्क नहीं, तर्क का दिवालियापन है। आस्तिक कहलाने वाले भी परमात्मा के स्वरूप के संबंध में कहाँ एक मत हैं। ? मुसलमान खुदा का स्वरूप कुछ और

ही बताते हैं, ईसाई कुछ और ही कहते हैं। वैदिक धर्म में भी सनातन धर्म का ईश्वर और है, तथा आर्यसमाज का ईश्वर और है। सनातन धर्म का ईश्वर अवतार धारण कर सकता है, परन्तु आर्यसमाज का ईश्वर अवतार धारण नहीं कर सकता। अब कहिए, कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक? केवल परमात्मा को मानने भर से आस्तिक हैं, तो जैनधर्म भी अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता है, अतः आस्तिक है।

आजकल के कुछ विद्वान यह कहते हैं कि जैन लोग परमात्मा को जगत् का कर्ता नहीं मानते, इसलिए नास्तिक हैं। यह तर्क भी ऊपर के समान व्यर्थ है। जब परमात्मा वीतराग है, रागद्वेष से रहित है, तब वह जगत् का क्यों निर्माण करे? और फिर उस जगत् का, जो आधव्याधि के भयंकर दुःखों से परिपूर्ण है। जगत् की रचना में वीतराग भाव सुरक्षित नहीं रह सकता। और बिना शरीर के निर्माण होगा भी कैसे? अस्तु, परमात्मा में जगत्-कर्तृत्व धर्म है ही नहीं। होने पर ही तो माना जाए। मनुष्य के पंख नहीं हैं। कल यदि कोई यह कहे कि मनुष्य के पंख होना मानो, नहीं तो तुम नास्तिक हो। यह भी अच्छी बला है। इस प्रकार तो सत्य का गला ही घोंट दिया जाएगा।

खेद है कि वैदिक सम्प्रदाय में मीमांसा, सांख्य और वैशेषिक आदि दर्शन कट्टर निरीश्वरवादी दर्शन हैं। जगत्कर्ता तो क्या, ईश्वर का अस्तित्व तक नहीं स्वीकार करते। फिर भी वे आस्तिक हैं। और जैन-धर्म अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता हुआ भी नास्तिक है। यह केवल अपने मत के प्रति मिथ्या राग और दूसरे धर्म के प्रति मिथ्या द्वेष नहीं तो क्या है?

शब्दों के वास्तविक अर्थ का निर्णय व्याकरण से होता है। शब्दों के सम्बन्ध में व्याकरण ही विद्वानों को मान्य होता है,

अपनी मनःकल्पना नहीं। आस्तिक और नास्तिक शब्द संस्कृत भाषा के हैं। अतः आइए, किसी प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण को टटोलें। लीजिए, पाणिनीय व्याकरण है। यह व्याकरण जैन सम्प्रदायका नहीं; वैदिक सम्प्रदाय का है।

महर्षि पाणिनि कितना अच्छा पक्षपात-शून्य निर्णय करते हैं। अष्टाध्यायी ग्रंथ के चौथे अध्याय, चौथे पाद में साठवाँ सूत्र है—

अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ४।४।६०। भट्टो जी दीक्षित ने अपनी सिद्धान्त कौमुदी में इसका अर्थ किया है—

अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः,
नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।"

इस संस्कृत अर्थ का हिन्दी अर्थ यह है कि—"जो परलोक को मानता है, वह आस्तिक है। और जो परलोक को नहीं मानता है, वह नास्तिक है।"

अब कोई भी विचारक देख सकता है कि व्याकरण क्या कहता है और हमारे ये स्नेही पड़ौसी मित्र क्या कहते हैं? जैन-धर्म परलोक को मानता है, पुनर्जन्म को मानता है, पाप-पुण्य को मानता है, स्वर्ग नरक मोक्ष को मानता है, फिर उसे नास्तिक कहने का दुःसाहस कौन कर सकता है? जिस धर्म में कदम-कदम पर अहिंसा और करुणा की गंगा बह रही हो, जिस धर्म में सत्य और सदाचार के लिए सर्वस्व का त्याग कर कठोर साधना का मार्ग अपनाया जा रहा हो, जिस धर्म में परम वीतराग भगवान महावीर जैसे महापुरुषों की विश्व-कल्याणमयी वाणी का अमर स्वर गूँज रहा हो, वह धर्म स्वप्न में भी नास्तिक नहीं हो सकता। यदि इतने पर भी जैन-धर्म को नास्तिक कहा जाता है, तब तो संसार का एक भी धर्म आस्तिक न कहला सकेगा।

२०

विभिन्न दर्शनों का समन्वय

[कारणवाद]

भारतवर्ष में दार्शनिक विचारधारा का जितना अधिक विकास हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्म-भूमि है। यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न विचार बिना किसी प्रतिबन्ध और नियन्त्रण के फूलते-फलते रहे हैं। यदि भारत के सभी पुराने दर्शनों का परिचय दिया जाए तो एक बहुत विस्तृत ग्रन्थ हो जाए। अतः यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही भारत के बहुत पुराने पाँच दार्शनिक विचारों का परिचय दिया जाता है। भगवान् महावीर के समय में भी इन दर्शनों का अस्तित्व था और आज भी बहुत से लोग इन दर्शनों के विचार रखते हैं।

पहले ही लम्बी चर्चा में जाने से तुम्हें जरा कष्ट होगा, अतः सर्व-प्रथम तुम्हें पाँचों के नाम बता दूँ तो अच्छा रहेगा न? पाँचों के नाम इस प्रकार हैं—(१) कालवाद, (२) स्वभाववाद, (३) कर्मवाद, (४) पुरुषवाद, (५) और नियतिवाद। इन पाँचों दर्शनों का आपस में भयंकर संघर्ष है और प्रत्येक परस्पर एक दूसरे का खण्डन कर केवल अपने ही द्वारा कार्य सिद्ध होने का दावा करता है।

१. काल-वाद

कालवाद का दर्शन बहुत पुराना है। वह काल को ही सब से बड़ा महत्त्व देता है। कालवाद का कहना है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, सब काल के प्रभाव से ही हो रहे हैं। काल के विना स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति कुछ भी नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पाप या पुण्य का कार्य

करता है, परन्तु उसी समय उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही अच्छा बुरा फल प्राप्त होता है। एक बालक आज जन्म लेता है। आप उसे कितना ही चलाइए, वह चल नहीं सकता। कितना ही बुलवाइए, बोल नहीं सकता। समय आने पर ही चलेगा, और बोलेगा। जो बालक आज सेर-भर का पत्थर नहीं उठा सकता, वह काल-परिपाक के बाद युवा होने पर मन-भर पत्थर को अधर उठा लेता है। आम का वृक्ष आज बोया है। क्या आप आज ही उसके मधुर फलों का रसास्वादन कर सकते हैं ? वर्षों के बाद कहीं आम्र फल के दर्शन होंगे। ग्रीष्मकाल में ही सूर्य तपता है, शीतकाल में ही शीत पड़ता है। युवावस्था में ही पुरुष के दाढ़ी-मूँछ आती हैं। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। समय आने पर ही सब कार्य होते हैं। काल की बड़ी महिमा है।

२. स्वभाव-वाद

स्वभाव-वाद का दर्शन भी कुछ कम वज़नदार नहीं है। वह भी अपने समर्थन में बड़े अच्छे तर्क उपस्थित करता है। स्वभाववाद का कहना है कि संसार में जो कुछ कार्य हो रहे हैं, सब वस्तुओं के अपने स्वभाव के प्रभाव से ही हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, कर्म, नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते। आम की गुठली में आम का वृक्ष होने का स्वभाव है, इसी कारण माली का पुरुषार्थ सफल होता है, और समय पर वृक्ष तैयार हो जाता है। यदि काल ही सब कुछ कर सकता है तो क्या वह निबौली से आम का वृक्ष उत्पन्न कर सकता है ? कभी नहीं। स्वभाव का बदलना बड़ा कठिन कार्य है। कठिन क्या, असम्भव कार्य है। नीम के वृक्ष को गुड़ और घी से सींचते रहिए, क्या वह मधुर हो सकता है ? दही बिलोने से ही मक्खन निकलता है, पानी से नहीं; क्योंकि दही में ही मक्खन देने का स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव गर्म है, जल का

स्वभाव शीतल है, सूर्य का स्वभाव दिन करना है और तारों का स्वभाव रात करना है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार कार्य कर रही है। स्वभाव के समक्ष बिचारे काल आदि क्या कर सकते हैं ?

३. कर्म-वाद

कर्मवाद का दर्शन तो भारतवर्ष में बहुत चिर-प्रसिद्ध दर्शन है। यह एक प्रबल दार्शनिक विचारधारा है। कर्मवाद का कहना है कि काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि सब नगण्य हैं। संसार में सर्वत्र कर्म का ही एक-छत्र साम्राज्य है। देखिए—एक माता के उदर से एक साथ दो बालक जन्म लेते हैं, उनमें एक बुद्धिमान् होता है, दूसरा मूर्ख ! ऊपर का वातावरण रङ्ग-ढङ्ग एक होने पर भी यह भेद क्यों है ? मनुष्य के नाते एक समान होने पर भी कर्म के कारण से भेद है। बड़े-बड़े बुद्धिमान चतुर पुरुष भूखों मरते हैं, और वज्र मूर्ख गद्दी-तकियों के सहारे सेठ बनकर आराम करते हैं। एक को माँगने पर भीख भी नहीं मिलती, दूसरा रोज़ हजार बारह सौ खर्च कर डालता है। एक के तन पर कपड़े के नाम पर चिथड़े भी नहीं हैं, और दूसरे के यहाँ कुत्ते भी मखमल के गद्दों पर लेट लगाते हैं। यह सब क्या है, अपने-अपने कर्म हैं। राजा को रंक और रंक को राजा बनाना, कर्म के बाएँ हाथ का खेल है। तभी तो एक विद्वान ने कहा है—"**गहना कर्मणो गतिः**"। अर्थात् कर्म की गति बड़ी गहन है।

४. पुरुष-वाद

पुरुषार्थवाद का भी संसार में कम महत्त्व नहीं है। यह ठीक है कि जनता ने पुरुषार्थवाद के दर्शन को अभी तक अच्छी तरह नहीं समझा है और उसने कर्म, स्वभाव तथा काल आदि को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु पुरुषार्थवाद का कहना है कि बिना पुरुषार्थ के संसार का एक भी कार्य सफल नहीं

हो सकता। संसार में जहाँ कहीं भी जो भी कार्य होता देखा जाता है, उसके मूल में कर्ता का अपना पुरुषार्थ ही छिपा होता है। काल कहता है कि समय आने पर ही सब कार्य होता है। परन्तु उस समय में भी यदि पुरुषार्थ न हो तो क्या हो जायगा ? आम की गुठली में आम पैदा होने का स्वभाव है, परन्तु क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही कोठे में रखी हुई गुठली में आम का पेड़ लग जायगा ? कर्म का फल भी क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही हाथ धरकर बैठे हुए मिल जायगा ? संसार में मनुष्य ने जो भी उन्नति की है, वह अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ही की है। आज का मनुष्य हवा में उड़ रहा है, जल में तैर रहा है, पहाड़ों को काट रहा है, परमाणु और उद्जन बम जैसे महान् आविष्कारों को तैयार करने में सफल होरहा है, यह सब मनुष्य का अपना पुरुषार्थ नहीं तो क्या है ! एक मनुष्य भूखा है, कई दिन का भूखा है। कोई दयालु सज्जन मिठाई का थाल भरकर सामने रख देता है। वह नहीं खाता है। मिठाई लेकर मुँह में डाल देता है, फिर भी नहीं चबाता है और गले से नीचे नहीं उतारता है। अब कहिए, बिना पुरुषार्थ के क्या होगा ? क्या यों ही भूख बुझ जायगी ? आखिर मुँह में डाली हुई मिठाई को चबाने का और चबाकर गले के नीचे उतारने का पुरुषार्थ तो करना ही होगा। सोये हुए सिंह के मुँह में अपने आप हिरन आकर नहीं पड़ते। तभी तो कहा है—**"पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो।"**

४. नियति-वाद

नियतिवाद का दर्शन ज़रा गम्भीर है। प्रकृति के अटल नियमों को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कहना है कि—संसार में जितने भी कार्य होते हैं, सब नियति के अधीन होते हैं। सूर्य पूर्व में ही उदय होता है, पश्चिम में क्यों नहीं ? कमल जल में ही उत्पन्न हो सकता है, शिला पर क्यों नहीं ?

पक्षी आकाश में उड़ सकते हैं, गधे, घोड़े क्यों नहीं ? हंस श्वेत क्यों हैं ? पशु के चार पैर होते हैं, मनुष्य के दो ही क्यों हैं ? अग्नि की ज्वाला जलते ही ऊपर को क्यों जाती है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि प्रकृति का जो नियम है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। यदि वह अन्यथा होने लगे तो फिर संसार में प्रलय ही हो जाय। सूर्य पश्चिम में उगने लगे, अग्नि शीतल हो जाय, गधे, घोड़े आकाश में उड़ने लगें, तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। नियति के अटल सिद्धान्त के समक्ष अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ हैं। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं जा सकता। अतः नियति ही सब से महान् है। [कुछ आचार्य नियति का अर्थ होनहार भी करते हैं]।

तुमने देखा, उपर्युक्त पाँचों वाद किस प्रकार अपने आपको तानते हैं और दूसरे का खण्डन करते हैं। इस खण्डन-मण्डन के कारण साधारण जनता में भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। वह सत्य के मूल मर्म को समझने में असमर्थ है। भगवान् महावीर ने इस संघर्ष की समस्या को बड़ी अच्छी तरह सुलझाया है। संसार के सामने भगवान् ने वही बात रखी है, जो पूर्णतया सत्य पर आधारित है।

५. समन्वय-वाद

भगवान् महावीर का कहना है कि पाँचों ही वाद अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। संसार में जो भी कार्य होता है, वह इन पाँचों के समन्वय से अर्थात् मेल से होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक ही अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। बुद्धिमान मनुष्य को आग्रह छोड़ कर सब का समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किए, कार्य में सफलता की आशा रखना दुराशामात्र है। यह हो सकता है कि किसी कार्य में

कोई एक प्रधान हो और दूसरे सब गौण हों। परन्तु यह नहीं हो सकता कि कोई एक स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध करदे।

भगवान् महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिए आम बोने वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली बाग में आम की गुठली बोता है, यहाँ पाँचों कारणों के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली में आम पैदा होने का स्वभाव है, परन्तु बोने का और बोकर रक्षा करने का पुरुषार्थ न हो तो क्या होगा ? बोने का पुरुषार्थ भी कर लिया, परन्तु बिना निश्चित काल का परिपाक हुए आम यों ही जल्दी थोड़ा ही तैयार हो जायगा ? काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ कर्म अनुकूल नहीं है, तो फिर भी आम नहीं लगने का। कभी-कभी किनारे आया हुआ जहाज भी डूब जाता है। अब रही, नियति। वह सब कुछ है ही। आम से आम होना प्रकृति का नियम है, इससे कौन इनकार कर सकता है ?

पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए भी पाँचों आवश्यक हैं। पढ़ने के लिए चित्त की एकाग्रता रूप स्वभाव हो, समय का योग भी दिया जाय, पुरुषार्थ यानी प्रयत्न भी किया जाय, अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ कर्म का उदय भी हो और प्रकृति के नियम नियति का भी ध्यान रखा जाय; तभी वह पढ़-लिख कर विद्वान् हो सकता है। अनेकान्तवाद के द्वारा किया जाने वाला यह समन्वय ही, वस्तुतः जनता को सत्य का प्रकाश दिखलाता है।

: २१ :

ईश्वर जगत्कर्ता नहीं

संसार में वैदिक, मुसलमान और ईसाई आदि धर्म ईश्वर को जगत् का कर्ता-हर्ता मानते हैं। यद्यपि जगत् के बनाने की प्रक्रिया में परस्पर काफी मत-भेद हैं, परन्तु जहाँ ईश्वर को जगत् कर्ता बताने का विवाद होता है, वहाँ सब एकमत हो जाते हैं।

जैन धर्म का मार्ग इन सबसे भिन्न है। वह जगत् को अनादि अनन्त मानता है। उसका विश्वास है कि जगत् न कभी बनकर तैयार हुआ और न कभी यह नष्ट ही होगा। पदार्थों के रूप बदल जाते हैं, परन्तु मूलतः किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता। इसी सिद्धान्त के आधार पर जगत् का रूप बदल जाता है, समुद्र की जगह स्थल और स्थल की जगह समुद्र हो जाता है, उजड़े हुए भूखण्ड जनाकीर्ण हो जाते हैं, और जनाकीर्ण देश बिलकुल ऊजड़, सुनसान बन जाते हैं। खण्ड-प्रलय होती रहती है, परन्तु महा-प्रलय होकर सब कुछ लुप्त हो जायगा, और फिर नये सिरे से जगत् का निर्माण होगा—यह कथमपि सम्भव नहीं है।

तथापि हमारे बहुत से साथी जगत् का उत्पन्न होना मानते हैं। उन्हें यह विश्वास ही नहीं आता कि बिना बनाए भी कोई चीज़ अस्तित्व रख सकती है। अतएव वे कहते हैं कि 'जगत् का बनाने वाला ईश्वर है।' इस पर जैन-दर्शन पूछना चाहता है कि क्या कोई भी पदार्थ बिना बनाए अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है? यदि नहीं रख सकता तो फिर ईश्वर का अस्तित्व किस प्रकार है? उसे किसने बनाया? यदि ईश्वर को किसी ने नहीं बनाया, फिर भी वह अपने आप ही अनादि

अनन्त काल से अपना अस्तित्व रख सकता है, तो इसी प्रकार जगत् भी अपने अस्तित्व में किसी उत्पादक की अपेक्षा नहीं रखता। वह भी ईश्वर के समान बिना किसी निर्माण के स्वत: सिद्ध है।

ईश्वर निराकार है। वह कोई हाथ-पैर एवं शरीर नहीं रखता। इस पर जैन-दर्शन का तर्क है कि बिना शरीर के, बिना हाथ-पैर के यह जगत् कैसे बन सकता है? हम देखते हैं कि कुम्हार, सुनार आदि कर्ता हाथ आदि से ही वस्तु का निर्माण करते हैं। कोई भी कर्ता शरीर के बिना क्या कर सकता है?

मुसलमान कहते हैं कि खुदा, शब्द से जगत् पैदा करता है। खुदा ने कुन कहा और दुनियाँ बनकर तैयार होगई। हम पूछते हैं--क्या 'खुदा के शरीर है? क्या खुदा के ज़बान है? क्या खुदा के मुँह है?' मुसलमान भाई कहते हैं कि 'खुदा के शरीर मुँह, जबान आदि कुछ नहीं है।' हम आश्चर्य में हैं कि जब मुँह ही नहीं है, ज़बान ही नहीं है तो फिर कुन कहा कैसे? शब्द के लिए तो मुँह की आवश्यकता है। दूसरी ओर जगत् के रूप में तब्दील होने वाले परमाणु तो जड़ हैं, बिना कान के हैं। उन्होंने खुदा की आज्ञा को सुना भी कैसे? और यदि वह बोल सकता है, तो अब क्यों नहीं बोलता है।? आज प्रार्थना करते-करते लोग पागल हुए जारहे हैं और वह बोलता ही नहीं। यदि वह बोल पड़े तो आज ही हजारों काफिर मोमिन हो जायँ। कितना बड़ा धर्म और परोपकार का काम होगा। क्या यह सब खुदा को पसन्द नहीं?

आज कल हमारे वैदिक धर्म की शाखा वाले सनातनी और आर्यसमाजी बन्धु मानते हैं कि ईश्वर ने इच्छा-मात्र से जगत् का निर्माण कर दिया। परमात्मा को ज्यों ही इच्छा पैदा हुई कि दुनियाँ तैयार हो, त्यों ही पहाड़, पर्वत, सूर्य, चाँद, भूमि और समुद्र आदि बनकर तैयार होगए। जैन-दर्शन इस

पर भी तर्क करता है कि ईश्वर के मन तो है नहीं, फिर वह इच्छा कैसे कर सकता है? इच्छा किसी प्रयोजन के लिए होती है। जगत के बनाने में, ईश्वर का क्या प्रयोजन है? ईश्वर दयालु है, परमपिता है। वह इस सिंह, सर्प आदि दुष्ट हिंसक पशुओं से भरे हुए; रोग, शोक, द्रोह, दुर्व्यसन से घिरे हुए; चोरी, जोरी, हत्या आदि अपराधों से व्याप्त दुःख-पूर्ण संसार के निर्माण की इच्छा कैसे कर सकता है? आप कहेंगे—'यह ईश्वर की लीला है।' भला यह लीला कैसी है? विचारे संसारी जीव रोग-शोक आदि से भयंकर त्रास पाएँ, अकाल और बाढ़ आदि के समय नरक-जैसा हाहाकार मच जाए! और वह ईश्वर, यह सब अपनी लीला करे? कोई भी भला आदमी इस पिशाच-लीला के लिए तैयार नहीं हो सकता! यदि परमात्मा दयालु होकर संसार का निर्माण करता, तो वह दीन-दुःखी और दुराचारी जीवों को क्यों पैदा करता? आज जिसे दुःखी देखकर हमारा हृदय भी भर आता है, उसे बनाते समय और इस दुःखद परिस्थिति में रखते समय यदि ईश्वर को दया नहीं आई, तो उसे हम दयालु कैसे कह सकते हैं?

सनातन धर्म में कहा जाता है कि जब संसार में पापी और दुराचारी बढ़ जाते हैं, तो वह उनका नाश करने के लिए अवतार धारण करता है। आर्य-समाजी बन्धु भी यह मानते हैं कि ईश्वर अवतार तो धारण नहीं करता, परन्तु दुष्टों को दण्ड अवश्य देता है। जैन-दर्शन पूछता है कि ईश्वर तो सर्वज्ञ है। वह जानता ही है कि ये पापी और दुराचारी बनकर मेरी सृष्टि को तंग करेंगे, फिर उन्हें बनाता ही क्यों है? जहर का वृक्ष पहले लगाना, और फिर उसे काटना, यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है? कोई भी बुद्धिमान मनुष्य यह नहीं करेगा कि पहले व्यर्थ ही कीचड़ में वस्त्र खराब करे और फिर उसे धोए।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह है कि—क्या वे पापी ईश्वर से भी बढ़कर बलवान हैं ? क्या ईश्वर उनको दुराचार करने से रोक नहीं सकता ? जो ईश्वर इच्छा-मात्र से इतना बड़ा विराट जगत् बना सकता है, क्या वह अपनी प्रजा को दुराचारी से सदाचारी नहीं बना सकता ? यदि वह कुछ भी दया रखता होता तो अवश्य ही अपनी शक्ति का उपयोग दुष्टों को सज्जन बनाने में करता। यह कहाँ का न्याय है कि पाप करते समय तो अपराधियों को रोकना नहीं। परन्तु बाद में उन्हें दण्ड देना, नष्ट करना। उस सर्वशक्तिमान ने जीवों में पहले दुराचार करने की बुद्धि ही क्यों उत्पन्न होने दी ? आप कहेंगे—ईश्वर ने जीवों को कर्म करने में स्वतन्त्रता दे रक्खी है, अतः वह नहीं रोक सकता। अरे भाई, यह भी कोई स्वतन्त्रता है ? सदाचार के लिए स्वतन्त्रता होती है, या पापाचार के लिए ? क्या कोई न्यायी प्रजा-वत्सल राजा ऐसा करेगा कि पहले तो अपनी प्रजा को स्वतन्त्र रूप से जान-बूझकर चोरी और दुराचार करने दे, और फिर उन्हें दण्ड दे कि तुमने चोरी क्यों की ? दुराचार क्यों किया ? आज के प्रगतिशील युग में तो इस प्रकार का बुद्धू राजा एक दिन भी गद्दी पर नहीं रह सकता। पता नहीं, ईश्वर को इस प्रकार बुद्धू राजा के पद पर बिठाने में हमारे ईश्वर प्रेमियों का क्या स्वार्थ है ?

ईश्वर राग और द्वेष से सर्वथा रहित है। जब राग-द्वेष से सर्वथा रहित है, तो संसार बनाने की झंझट में क्यों पड़ता है ? राग-द्वेष रहित वीतराग पुरुष सृष्टि को बनाने और बिगाड़ने के खेल में पड़ना कभी पसन्द नहीं कर सकता। संसार की रचना में तो सदा सर्वत्र राग-द्वेष का सामना करना पड़ेगा। किसी को सुखी बनाना होगा, किसी को दुःखी। किसी को धनी बनाना होगा, किसी को निर्धन। किसी को काश्मीर जैसी स्वर्ग भूमि रहने को देगा, किसी को जलता

हुआ अरबिस्तान। बिना राग-द्वेष के यह भेद-बुद्धि कैसे होगी ?

यदि आप यह कहें कि वह अपनी इच्छा से नहीं करता। हम पूछते हैं—किसकी इच्छा से करता है ? यदि किसी दूसरे की इच्छा से ज़बर्दस्ती ईश्वर को इस अभद्र कार्य में संलग्न होना पड़ता है तो फिर वह परतन्त्र, ईश्वर ही काहे का रहा ? अब तो वह ज़बर्दस्ती काम कराने वाली शक्ति ही ईश्वर कहलाएगी ? दूसरी बात यह है कि ईश्वर कृतकृत्य है। कृतकृत्य उसे कहते हैं, जिसे कोई कार्य करना शेष न रहा हो। यदि संसार के कार्य ईश्वर को ही करने हैं, तो वह कृतकृत्य नहीं रह सकता। वह भी फिर संसारी जीवों के समान ही उलझन में फँसा रहने वाला साधारण प्राणी हो जायगा।

आप यहाँ फिर वही पुराना तर्क उपस्थित करेंगे कि—'ईश्वर स्वयं कार्य नहीं करता। वह तो जीवों का जैसा कर्म होता है, उसी के अनुसार फल देने आदि का कार्य करता है।' यह तर्क मूर्खों को बहकाने वाला हो सकता है। परन्तु ज़रा भी बुद्धि से काम लिया जाय, तो तर्क की निःसारता अपने आप सब पर प्रकट हो जाती है। यहाँ एक सुन्दर उदाहरण देकर हम इस तर्क का खण्डन करेंगे।

एक धनी आदमी है। उसने कुछ ऐसा कर्म किया कि जिसका फल उसका धन अपहरण होने से मिल सकता है। ईश्वर स्वयं तो उसका धन चुराने के लिए आता नहीं। अब किससे चुराए ? हाँ, तो किसी चोर के द्वारा उसका धन चुराता है। ऐसी स्थिति में, जबकि एक चोर ने एक धनी का धन चुराया तो क्या हुआ ? कोई भी विचारक उत्तर दे सकता है कि इस धनापहरण-क्रिया से धनी को तो पूर्वकृत कर्म का फल मिला और चोर ने नवीन कर्म किया। इस नवीन कर्म का फल ईश्वर ने राजा के द्वारा चोर को जेल पहुँचा कर

दिलवाया। अब बताइए कि चोर ने जो धनी का धन चुराने की चेष्टा की, वह अपनी स्वतन्त्रता से की? अथवा ईश्वर की प्रेरणा से की? यदि स्वतन्त्रता से की है, और इसमें ईश्वर की कुछ भी प्रेरणा नहीं है, तो फिर धनी को जो कर्म का फल मिला, वह अपने आप मिला, ईश्वर का दिया हुआ नहीं मिला। यदि ईश्वर की प्रेरणा से चोर ने धन चुराया तो वह स्वयं कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं रहा, निर्दोष हुआ। अब जो ईश्वर राजा के द्वारा चोर को चोरी का दण्ड दिलवाता, है, वह किस अन्याय कें आधार पर दिलवाता है? पहले तो स्वयं चोरी करवाना और फिर स्वयं ही उसको दण्ड दिलवाना, यह किस दुनिया का न्याय है?

यह एक उदाहरण है। इस उदाहरण पर से ही विवाद का निर्णय हो जाता है। यदि ईश्वर को संसार की खट-पट में पड़ने वाला और कर्म-फल का देने वाला मानेंगे, तो संसार में ज़ितने भी अत्याचार-दुराचार होते हैं, उन सबका करने वाला ईश्वर ही ठहरेगा। इसके लिए प्रबल प्रमाण यह है कि जितने भी कर्म-फल मिल रहे हैं, सब के पीछे ईश्वर का हाथ है। और फिर यह अच्छा तमाशा होता है कि अपराधी ईश्वर और दण्ड भोगे जीव?

जैन-धर्म परमात्मा को जगत का कर्ता और कर्म-फल का दाता नहीं मानता है। इस पर हमारे बहुत से प्रेमी यह कहा करते हैं कि—यदि परमात्मा हमें सुख-दुःख नहीं देता तो उसकी भक्ति करने की क्या आवश्यकता है? जो हमारे काम ही नहीं आता, उसकी भक्ति से आखिर कुछ लाभ? जैन-धर्म उत्तर देता है कि—क्या भक्ति का अर्थ काम कराना ही है। परमात्मा को मज़दूर बनाए बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। यह भक्ति क्या, यह तो एक प्रकार की तिजारत है, व्यापार है। इस प्रकार कर्तावादियों की भक्ति, भक्ति नहीं,

ईश्वर को फुसलाना है। और अपने सुख के लिए उसकी चापलूसी करना अथवा घूँस देने का प्रयत्न करना है। जैन-धर्म में तो विना किसी इच्छा के प्रभु की भक्ति करना ही सच्ची भक्ति है। निष्काम भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। अव रहा यह प्रश्न कि आखिर इससे कुछ लाभ भी है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा आध्यात्मिक उत्कर्ष का आदर्श है और उस आदर्श का उचित स्मरण हमें परमात्मा की भक्ति के द्वारा होता है। मनोविज्ञान शास्त्र का नियम है कि जो मनुष्य जैसी वस्तु का निरन्तर विचार करता है, चिन्तन करता है, कालान्तर में वह वैसा ही बन जाता है, वैसी ही मनोवृत्ति पा लेता है। जिसकी जैसी भावना होती है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इस नियम के अनुसार परमात्मा का चिन्तन, मनन, भजन करने से परमात्म-पद की प्राप्ति होती है। और यह प्राप्ति, क्या कुछ कम लाभ है?

: २२ :

अ ने का न्त वाद

[स्या द्वा द]

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की आधार-शिला है। जैन तत्त्व-ज्ञान की सारी इमारत, इसी अनेकान्तवाद के सिद्धांत पर अवलम्बित है। वास्तव में अनेकान्तवाद को जैन-दर्शन का प्राण समझना चाहिए। जैन-धर्म में जब भी, जो भी बात कही गई है, वह अनेकान्तवाद की सुनिपुण कसौटी पर अच्छी तरह जाँच-परख कर ही कही गई है। यही कारण है कि दार्शनिक साहित्य में जैन-दर्शन का दूसरा नाम अनेकान्तवाद दर्शन भी है।

अनेकान्तवाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का भिन्न भिन्न दृष्टि विन्दुओं से विचार करना, परखना, देखना। अनेकान्तवाद का यदि एक ही शब्द में अर्थ समझना चाहें, तो उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते हैं। जैन-धर्म में सर्वथा एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण एवं अप्रामाणिक समझा जाता है। और एक ही वस्तु में विभिन्न धर्मों को विभिन्न दृष्टिकोणों से निरीक्षण करने की पद्धति को पूर्ण एवं प्रामाणिक माना गया है। यह पद्धति ही अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं, जैसे एक रुपये के दो बाजू। इसी कारण सर्व साधारण दोनों वादों को एक ही समझ लेते हैं। परन्तु ऊपर से एक होते हुए भी दोनों में मूलतः भेद है। अनेकान्तवाद वस्तु दर्शन की विचार पद्धति है तो स्याद्वाद उसकी भाषा-पद्धति। अनेकान्त दृष्टि को भाषा में उतारना स्याद्वाद है। वस्तुगत अनंत धर्मों के मूल में रही हुई

विभिन्न अपेक्षाओं को दूसरों के लिए निरूपण करना, उनका मर्मोद्‌घाटन करना ही वस्तुतः स्याद्वाद है। स्याद्वाद को 'कथंचित्‌वाद' भी कहते हैं।

जैनधर्म की मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह छोटा रज-कण हो चाहे बड़ा हिमालय, अनंत धर्मों का समूह है। धर्म का अर्थ-गुण है, विशेषता है। उदाहरण के लिए आप फल को ले लीजिए। फल में रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है, आकार भी है, भूख बुझाने की शक्ति है, अनेक रोगों को दूर करने की शक्ति है और अनेक रोगों को पैदा करने की शक्ति भी है। कहाँ तक गिनाएँ ? हमारी बुद्धि बहुत सीमित है, अतः हम वस्तु के सब अनन्त धर्मों को बिना केवल ज्ञान हुए नहीं जान सकते, परंतु स्पष्टतः प्रतीयमान बहुत से धर्मों को तो यावद् बुद्धि-बलोदयम् जान ही सकते हैं।

हाँ तो पदार्थ को केवल एक पहलू से, केवल एक धर्म से जानने का या कहने का आग्रह मत कीजिए। प्रत्येक पदार्थ को पृथक-पृथक पहलुओं से देखिए और कहिए। इसी का नाम एकान्त-वाद है। अनेकान्तवाद हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करता है, हमारी विचार-धारा को पूर्णता की ओर ले जाता है।

फल के सम्बन्ध में जब हम कहते हैं कि—फल में रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है आदि आदि; तब तो हम अनेकान्त और स्याद्‌वाद का उपयोग करते हैं और फल का यथार्थ निरूपण करते हैं। इसके विपरीत जब हम एकांत आग्रह में आकर यह कहते हैं कि–फल में केवल रूप ही है, रस ही है, गंध ही है, स्पर्श ही है, आदि आदि; तब हम मिथ्या एकान्तवाद का प्रयोग करते हैं। 'भी' में दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है, जब कि 'ही' में दूसरे धर्मों का स्पष्टतः निषेध है। रूप भी है—इसका यह अर्थ है कि फल में रूप भी है और दूसरे रस आदि धर्म भी हैं। और रूप

ही है,—इसका यह अर्थ है कि फल में मात्ररूप ही है, रस आदि कुछ नहीं। यह 'भी' और 'ही' का अन्तर ही स्याद्वाद और मिथ्यावाद है। 'भी' स्याद्वाद है, तो 'ही' मिथ्यावाद।

एक आदमी बाजार में खड़ा है। एक ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—'पिताजी'। दूसरी ओर से एक बूढ़ा आया। उसने कहा—'पुत्र'। तीसरी ओर से एक अधेड़ व्यक्ति आया। उसने कहा—'भाई'। चौथी ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—'मास्टर जी।' मतलब यह है कि—उसी आदमी को कोई चाचा कहता है, कोई ताऊ कहता है, कोई मामा कहता है, कोई भानजा कहता है— आदि आदि। सब झगड़ते हैं—यह तो पिता ही है; पुत्र ही है, भाई ही है, मास्टर ही है, और चाचा ही है आदि आदि। अब बताइए, कैसे निर्णय हो? उनका यह संघर्ष कैसे मिटे? वास्तव में वह आदमी है क्या? यहाँ पर स्याद्वाद को जज बनाना पड़ेगा। स्याद्वाद पहले लड़के से कहता है—हाँ, यह पिता भी है। तुम्हारे ही लिए तो पिता है, चूंकि तुम इसके पुत्र हो। और सब लोगों का तो पिता नहीं है। बूढ़े से कहता है—हाँ, यह पुत्र भी है। तुम्हारी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सब लोगों की अपेक्षा से तो नहीं। क्या यह सारी दुनियाँ का पुत्र है? मतलब यह है कि यह आदमी अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, अपने भाई की अपेक्षा भाई है, अपने विद्यार्थी की अपेक्षा मास्टर है। इसी प्रकार अपनी-अपनी अपेक्षा से चाचा; ताऊ, मामा, भानजा, पति, मित्र सब हैं। एक ही आदमी में अनेक धर्म हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से। यह नहीं कि उसी पुत्र की अपेक्षा पिता, उसी की अपेक्षा पुत्र, उसी की अपेक्षा भाई, मास्टर, चचा, ताऊ, मामा, और भानजा हो। ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ-विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है।

अच्छा स्याद्वाद को समझने के लिए तुम्हें कुछ और बताएँ?

एक आदमी काफी ऊँचा है, इसलिए कहता है कि मैं बड़ा हूँ। हम पूछते हैं—'क्या आप पहाड़ से भी बड़े हैं?' वह झट कहता है—नहीं साहब, पहाड़ से तो मैं छोटा हूँ। मैं तो इन साथ के आदमियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं बड़ा हूँ।' अब एक दूसरा आदमी है। वह अपने साथियों से नाटा है, इसलिए कहता है कि—मैं छोटा हूँ।' हम पूछते हैं—'क्या आप चींटी से भी छोटे हैं?' वह झट उत्तर देता है 'नहीं साहब, चींटी से तो मैं बड़ा हूँ। मैं तो अपने इन कद्दावर साथियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं छोटा हूँ।' अब तुम्हारी समझ में अपेक्षावाद आगया होगा कि हर एक चीज छोटी भी है और बड़ी भी। अपने से बड़ी चीजों की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी चीजों की अपेक्षा बड़ी है। यह मर्म अनेकान्तवाद के बिना समझ में नहीं आ सकता है।

अनेकान्तवाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने हाथी का उदाहरण दिया है। एक गाँव में जन्म के अन्धे छह मित्र रहते थे। सौभाग्य से एक दिन वहाँ एक हाथी आ गया। गाँव वालों ने कभी हाथी देखा न था, धूम मच गई। अंधों ने हाथी का आना सुना तो देखने दौड़े। अंधे तो थे ही, देखते क्या? हर एक ने हाथ से टटोलना शुरू किया। किसी ने पूँछ पकड़ी तो किसी ने सूंड़, किसी ने कान पकड़ा तो किसी ने दाँत, किसी ने पैर पकड़ा तो किसी ने पेट। एक-एक अंग को पकड़ कर हर एक ने समझ लिया कि मैंने हाथी देख लिया है। अपने स्थान पर आए तो हाथी के सम्बन्ध में चर्चा छिड़ी।

प्रथम पूँछ पकड़ने वाले ने कहा—"हाथी तो मोटे रस्से-जैसा था।"

सूंड़ पकड़ने वाले दूसरे अंधे ने कहा—"झूठ, बिल्कुल झूठ। हाथी कहीं रस्से-जैसा होता है। अरे हाथी तो मूसल-जैसा था।"

तीसरा कान वाला बोला—"आँखें काम नहीं देतीं तो क्या-

हुआ, हाथ तो धोखा नहीं दे सकते। मैंने हाथी को टटोल कर देखा था, वह ठीक छाज जैसा था।"

चौथे दांत वाले सूरदास बोले—"अरे तुम सब गप्पें मारते हो ? हाथी तो कुश यानी कुदाल-जैसा था।"

पाँचवें पैर वाले महाशय ने कहा—"अरे कुछ भगवान का भी भय रखो। नाहक क्यों झूठ बोलते हो ? हाथी तो मोटा खंभा-जैसा है।"

छठे पेट वाले सूरदास गरज उठे—"अरे क्यों बकवास करते हो। पहले पाप किए तो अन्धे हुए, अब व्यर्थ का झूँठ बोल कर क्यों उन पापों की जड़ों में पानी सींचते हो ? हाथी तो भाई मैं भी देखकर आया हूँ। वह अनाज भरने की कोठी-जैसा है।"

अब क्या था, आपस में वाग्युद्ध ठन गया। सब एक दूसरे की भर्त्सना करने लगे।

सौभाग्य से वहाँ एक आँखों वाला सत्पुरुष आ गया। अन्धों की तू-तू मैं-मैं सुनकर उसे हँसी आगई। पर, दूसरे ही क्षण उसका चेहरा गम्भीर हो गया। उसने सोचा—"भूल हो जाना अपराध नहीं है, किंतु किसी की भूल पर हँसना अपराध है।" उसका हृदय करुणार्द्र हो गया। उसने कहा—"बंधुओ, क्यों झगड़ते हो ? जरा मेरी भी बात सुनो। तुम सब सच्चे भी हो और झूँठे भी। तुम में से किसी ने भी हाथी को पूरा नहीं देखा है। एक-एक अवयव को लेकर हाथी की पूर्णता का दावा कर रहे हो। कोई किसी को झूँठा मत कहो, एक दूसरे के दृष्टि-कोण को समझने का प्रयत्न करो। हाथी रस्से-जैसा भी है, पूंछ की दृष्टि से। हाथी मूसल-जैसा भी है, सूंड की अपेक्षा से। हाथी छाज-जैसा भी है, कान की ओर से। हाथी कुदाल-जैसा भी है, दाँतों के लिहाज से। हाथी खंभे-जैसा भी है, पैरों की अपेक्षा से। हाथी अनाज की कोठी जैसा भी है; पेट की दृष्टि से।" इस प्रकार

समझा-बुझाकर उस सज्जन ने एकान्त की आग में अनेकान्त का पानी डाला।

संसार में जितने भी एकान्तवादी आग्रही संप्रदाय हैं, वे पदार्थ के एक-एक अंश अर्थात् एक-एक धर्म को ही पूरा पदार्थ समझते हैं। इसीलिए दूसरे धर्म वालों से लड़ते-झगड़ते हैं। परन्तु वास्तव में वह पदार्थ नहीं, पदार्थ का एक अंश-मात्र हैं। स्याद्वाद आँखों वाला दर्शन हैं। अतः वह इन एकान्तवादी अन्धे दर्शनों को समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है, सब दृष्टि से नहीं। अपने एक अंश को सर्वथा सब अपेक्षा से सत्य, और दूसरे अंशों को असत्य कहना, बिल्कुल अनुचित है। स्याद्वाद इस प्रकार एकान्तवादी दर्शन की भूल बताकर पदार्थ के सत्य स्वरूप को आगे रखता है और प्रत्येक सम्प्रदाय को किसी एक अपेक्षा से ठीक बतलाने के कारण साम्प्रदायिक कलह को शान्त करने की क्षमता रखता है। केवल साम्प्रदायिक कलह को ही नहीं, यदि स्याद्वाद का जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग किया जाए तो क्या परिवार, क्या समाज और क्या राष्ट्र, सभी में प्रेम एवं सद्भावना का सुखद राज्य क़ायम हो सकता है। कलह और संघर्ष का बीज एक दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने में ही है। और स्याद्वाद इसके समझने में मदद करता है।

यहां तक स्याद्वाद को समझने के लिए स्थूल लौकिक उदाहरण ही काम में लाए गए हैं। अब दार्शनिक उदाहरणों का मर्म भी समझ लेना चाहिए। यह विषय जरा गंभीर है, अतः हमें सूक्ष्म निरीक्षण-पद्धति से काम लेना ठीक रहेगा।

अच्छा, तो पहले नित्य और अनित्य के प्रश्न को ही ले लें। जैन-धर्म कहता है कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण लोग इस बात पर घपले में पड़ जाते हैं कि जो नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकता है? और जो अनित्य है, वह

नित्य कैसे हो सकता है ? परन्तु जैन-धर्म अपने अनेकान्तवाद-रूपी महान् अटल सिद्धान्त के द्वारा सहज ही में इस समस्या को सुलझा लेता है।

कल्पना कीजिए—एक घड़ा है। हम देखते हैं कि जिस मिट्टी से घड़ा बना है, उसी से सिकोरा, सुराही आदि और भी कई प्रकार के बर्तन बनते हैं। हाँ, तो यदि उस घड़े को तोड़ कर हम उसी की मिट्टी से बनाया गया कोई दूसरा वर्तन किसी को दिखलाएँ, तो वह कदापि उसको घड़ा नहीं कहेगा। उसी घड़े की मिट्टी के होते हुए भी उसको घड़ा न कहने का कारण क्या है ? कारण और कुछ नहीं, यही है कि अब उसका आकार घड़े-जैसा नहीं है।

इस पर से यह सिद्ध हो जाता है कि घड़ा स्वयं कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, बल्कि मिट्टी का एक आकार- विशेष है। परन्तु वह आकार-विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं है, उसी का एक रूप है। क्योंकि भिन्न-भिन्न आकारों में परिवर्तित हुई मिट्टी ही जब घड़ा, सिकोरा, सुराही आदि भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित होती है, तो इस स्थिति में विभिन्न आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकते हैं ? इससे साफ जाहिर है कि घड़े का आकार और मिट्टी दोनों ही घड़े के अपने निज स्वरूप हैं।

अब देखना है कि इन दोनों स्वरूपों में विनाशी स्वरूप कौन-सा है और ध्रुव कौन-सा है ? यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घड़े का वर्तमान में दिखने वाला आकार-स्वरूप विनाशी है। क्योंकि वह बनता और विगड़ता है। पहले नहीं था, वाद में भी नहीं रहेगा। जैन-दर्शन में इसे पर्याय कहते हैं। और घड़े का जो दूसरा मूल स्वरूप मिट्टी है, वह अविनाशी है, क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। घड़े के बनने से पहले भी मिट्टी मौजूद थी, घड़े के वनने पर भी वह मौजूद

है, और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी वह मौजूद रहेगी। मिट्टी अपने आप में पुद्गल-स्वरूपेण स्थायी तत्त्व है, उसे बनना-बिगड़ना नहीं है। जैन-दर्शन में इसे द्रव्य कहते हैं।

इतने विवेचन पर से अब यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि घड़े का एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा अविनाशी। एक जन्म लेता है और नष्ट हो जाता है, दूसरा सदा सर्वदा बना रहता है, नित्य रहता है। अतएव अब हम अनेकान्तवाद की दृष्टि से यों कह सकते हैं कि घड़ा अपने आकार की दृष्टि से=विनाशी रूप से अनित्य है। और अपने मूल मिट्टी की दृष्टि से=अविनाशी रूप से नित्य है।* जैन-दर्शन की भाषा में कहें तो यों कह सकते हैं कि घड़ा अपनी पर्याय की दृष्टि से अनित्य है और द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी जैसे परिलक्षित होने वाले नित्यता और अनित्यता रूप धर्मों को सिद्ध करने वाला सिद्धान्त ही अनेकान्तवाद है।

अच्छा, इसी विषय पर जरा और विचार कीजिए। जगत के सब पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन धर्मों से युक्त हैं। जैन-दर्शन में इनके लिए क्रमशः उत्पान, व्यय और ध्रौव्य शब्दों का प्रयोग किया गया है। आप कहेंगे—एक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का सम्भव कैसे हो सकता है? इसे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक सुनार के पास सोने का कंगन है। वह उसे तोड़कर, गलाकर हार बना लेता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कंगन का नाश होकर हार की उत्पत्ति हो गई। परन्तु इससे आप यह नहीं कह सकते

---

* मिट्टी का उदाहरण मात्र समझने के लिए स्थूल रूप से दिया है। वस्तुतः मिट्टी भी नित्य नहीं है। नित्य तो वह पुद्गल परमाणु-पुंज है, जिससे मिट्टी का निर्माण हुआ है।

कि कंगन बिलकुल ही नया बन गया। क्योंकि कंगन और हार में जो सोने के रूप में पुद्गल परमाणु-स्वरूप मूल तत्त्व है, वह तो ज्यों-का-त्यों अपनी उसी स्थिति में विद्यमान है। विनाश और उत्पत्ति केवल आकार की ही हुई है। पुराने आकार का नाश हुआ है और नये आकार की उत्पत्ति हुई है। इस उदाहरण के द्वारा सोने में कंगन के आकार का नाश, हार के आकार की उत्पत्ति, और सोने की तदवस्थ स्थिति—ये तीनों धर्म भली भाँति सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश-ये तीनों गुण स्वभावतया रहते है। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है, तो इससे यह न समझना चाहिए कि उसके मूल तत्त्व ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल रूप के होते हैं। स्थूल वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी उसके सूक्ष्म परमाणु तो सदा स्थित ही रहते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु, दूसरी वस्तु के साथ मिल कर नवीन रूपों का निर्माण करते हैं। वैशाख और ज्येष्ठ के महीने में सूर्य की किरणों से जब तालाब आदि का पानी सूख जाता है, तब यह समझना भूल है कि पानी का सर्वथा अभाव होगया है, उसका अस्तित्व पूर्णतया नष्ट हो गया है। पानी चाहे अब भाप या गैस आदि किसी भी रूप में क्यों न हो, पर, वह विद्यमान अवश्य है। यह हो सकता है कि उसका वह सूक्ष्म रूप हमें दिखाई न दे; परन्तु यह तो कदापि संभव नहीं कि उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाय, सर्वथा अभाव ही हो जाय। अतएव यह सिद्धान्त अटल है कि न तो कोई वस्तु मूल रूप से अपना अस्तित्व खोकर सर्वथा नष्ट ही होती है और न शून्य-रूप तुच्छ अभाव से भाव स्वरूप होकर नवीन रूप में सर्वथा उत्पन्न ही होती है। आधुनिक पदार्थ-विज्ञान भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। वह कहता है कि—"प्रत्येक वस्तु मूल प्रकृति के रूप में ध्रुव है—स्थिर है, और उससे उत्पन्न होने वाले अपरापर दृश्यमान पदार्थ उसके भिन्न-भिन्न रूपान्तर मात्र हैं।"

हाँ, तो उपर्युक्त उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन गुणों में से जो मूल वस्तु सदा स्थित रहती है; उसे जैन-दर्शन में द्रव्य कहते हैं; और जो उत्पन्न एवं विनष्ट होती रहती हैं, उसे पर्याय कहते हैं। कंगन से हार बनने वाले उदाहरण में—सोना द्रव्य है, और कंगन तथा हार पर्याय हैं। द्रव्य की अपेक्षा से हर एक वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को न एकान्त नित्य और न एकान्त अनित्य, अपितु नित्यानित्य उभय रूप से मानना ही अनेकान्तवाद है।

यही सिद्धान्त सत् और असत् के सम्बन्ध में भी है। कितने ही सम्प्रदाय कहते हैं—'वस्तु सर्वथा सत् है।' इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदाय कहते है कि 'वस्तु सर्वथा असत् हैं।' दोनों ओर से संघर्ष होता है, वाग्युद्ध होता है। अनेकान्तवाद ही इस संघर्ष का सही समाधान कर सकता है।

अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ 'है' भी और 'नहीं' भी। अपने निज स्वरूप से है और दूसरे परस्वरूप से नहीं है। अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से सत् है, और पर-पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से असत् है। यदि वह परपुत्र की अपेक्षा से भी पिता ही है, तो सारे संसार का पिता हो जायगा, और यह असम्भव है।

आपके सामने एक कुम्हार है। उसे कोई सुनार कहता है। अब यदि वह यह कहे कि मैं तो कुम्हार हूँ, सुनार नहीं हूँ, तो क्या अनुचित कहता है? कुम्हार की दृष्टि से यद्यपि वह सत् है, तथापि सुनार की दृष्टि से वह असत् है।

कल्पना कीजिए—सौ घड़े रखे हैं। घड़े की दृष्टि से तो वे सब घड़े हैं, इसलिए सत् हैं। परन्तु घट से भिन्न जितने भी पट आदि अघट हैं, उनकी दृष्टि से असत् हैं। प्रत्येक घड़ा भी अपने गुण, धर्म और स्वरूप से ही सत् है; किन्तु अन्य घड़ों के गुण, धर्म

और स्वरूप से सत् नहीं है। घड़ों में भी आपस में भिन्नता है न? एक मनुष्य अकस्मात् किसी दूसरे के घड़े को उठा लेता है, और फिर पहिचानने पर यह कह कर कि यह मेरा नहीं है, वापस रख देता है। इस दशा में घड़े में असत् नहीं तो क्या है? 'मेरा नहीं है'—इसमें मेरा के आगे जो 'नहीं' शब्द है, वही असत् का अर्थात् नास्तित्व का सूचक है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपनी सीमा में है, सीमा से बाहर नहीं। अपना स्वरूप अपनी सीमा है, और दूसरों का स्वरूप अपनी सीमा से बाहर है, पर सीमा है। यदि विश्व की हर एक वस्तु, हर एक वस्तु के रूप में सत् हो जाए तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। दूध, दूध रूप में भी सत् हो, दही के रूप में भी सत् हो, छाछ के रूप में भी सत् हो, पानी के रूप में भी सत् हो, तब तो दूध के बदले में दही, छाछ, या पानी हर कोई ले-दे सकता है। याद रखिए—दूध, दूध के रूप में सत् है, दही आदि के रूप में असत् है। क्योंकि स्वरूप सत् है, पर-रूप असत्।

स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। महात्मा गाँधी जैसे संसार के महान् पुरुषों ने भी उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पाश्चात्य विद्वान् डा० थामस आदि का भी कहना है कि—"**स्याद्वाद का सिद्धान्त बड़ा ही गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितिया पर अच्छा प्रकाश डालता है।**"

वस्तुतः स्याद्वाद सत्य-ज्ञान की कुञ्जी है। आज संसार में जो सब और धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि वैर-विरोध का बोलबाला है वह स्याद्वाद के द्वारा अच्छी तरह दूर हो सकता है। दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद सम्राट है। फलतः उसके सामने जाते ही कलह, ईर्ष्या, अनुदारता, साम्प्रदायिकता और संकीर्णता आदि दोष भयभीत होकर भाग जाते हैं। जब कभी विश्व में शान्ति का सर्वतो-भद्र सर्वोदय राज्य स्थापित होगा, तो वह स्याद्वाद के द्वारा ही होगा—यह बात अटल है, अचल है।

: २३ :

अवतारवाद या उत्तारवाद ?

ब्राह्मण- संस्कृति अवतारवाद में विश्वास करती है। ईश्वर एक सर्वोपरि शक्ति है। वह भूमण्डल पर अवतार धारण कर मनुष्य आदि का रूप लेती है और अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना करती है। यह है अवतारवाद की मूल भावना। संसार में राम, कृष्ण आदि जितने भी महापुरुष हुए हैं, ब्राह्मण-संस्कृति ने सब को ईश्वर का अवतार माना है और कहा है कि भूमि का भार उतारने के लिए समय-समय पर ईश्वर को विभिन्न रूपों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

इसके विपरीत श्रमण-संस्कृति, फिर चाहे वह जैन-संस्कृति हो अथवा बौद्ध-संस्कृति, अवतारवाद की धारणा में किसी भी तरह का विश्वास नहीं रखती। श्रमण-संस्कृति का आदि-काल से यही आदर्श रहा है कि इस संसार को बनाने-बिगाड़ने वाली ईश्वर या अन्य किसी भी नाम की कोई भी सर्वोपरि शक्ति नहीं है। अतः जबकि लोकप्रकल्पित सर्व-सत्ताधारी ईश्वर ही कोई नहीं है, तब उसके अवतार लेने की बात को तो अवकाश ही कहाँ रहता है ? यदि कोई ईश्वर हो भी, तो वह सर्वज्ञ, शक्तिमान् क्यों नीचे उतर कर आए ? क्यों मत्स्य, वराह एवं मनुष्य आदि का रूप ले ? क्या वह जहाँ है वहाँ से ही अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हरण नहीं कर सकता ? अवतारवाद के मूल में एक प्रकार से मानव-मन की हीन-भावना ही काम कर रही है। वह यह कि मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। वह कैसे इतने महान् कार्य कर सकता है ? अतः संसार में जितने भी

विश्वोपकारी महान् पुरुष हुए हैं, वे सब वस्तुतः मनुष्य नहीं थे, ईश्वर थे और ईश्वर के अवतार थे। ईश्वर थे, तभी तो इतने महान् आश्चर्यजनक कार्य कर गए। अन्यथा बेचारा आदमी, यह सब कुछ कर सकता था ? कदापि नहीं।

अवतारवाद का भावार्थ ही यह है—नीचे उतरो, हीनता का अनुभव करो। अपने को पंगु, बेबस, लाचार समझो। जब भी कभी महान् कार्य करने का प्रसंग आए, देश या धर्म पर घिरे हुए संकट एवं अत्याचार के बादलों को साफ़ करने का अवसर आए, तो बस ईश्वर के अवतार लेने का इन्तज़ार करो, सब प्रकार से दीन-हीन एवं पंगु मनोवृत्ति से ईश्वर के चरणों में शीघ्र से शीघ्र अवतार लेने के लिए पुकार करो। वही संकटहारी है, अतः वही कुछ परिवर्तन ला सकता है। अवतारवाद कहता है कि—देखना, तुम कहीं कुछ कर न बैठना। तुम मनुष्य हो, पामर हो, अस्तु तुम्हारे करने से कुछ नहीं होगा। ईश्वर का काम, भला दो हाथ-वाला हाड़-मांस का पिंजर क्षुद्र मनुष्य कैसे कर सकता है ? ईश्वर की बराबरी करना नास्तिकता है, परले सिरे की मूर्खता है। इस प्रकार अवतारवाद अपने मूल रूप में दास-भावना का झण्डाबरदार है।

अवतारवाद की मान्यता पर खड़ी की गई संस्कृति, मनुष्य की श्रेष्ठता एवं पवित्रता में विश्वास नहीं रखती। उसकी मूल भाषा में मनुष्य एक द्विपद जन्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनुष्य का अपना भविष्य उसके अपने हाथ में नहीं है, वह एकमात्र जगन्नियंता ईश्वर के हाथ में है। वह, जो चाहे कर सकता है। मनुष्य उसके हाथ की कठ-पुतली है। वह पुराणों की भाषा में 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' व्याख्या के अनुसार विश्व का सर्वाधिकारी सम्राट् है।

"भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"—गीता।

मनुष्य कितनी ही ऊँची साधना करे, कितना ही सत्य तथा अहिंसा के ऊँचे शिखरों पर विचरण करे, परन्तु वह ईश्वर कभी नहीं बन सकता। मनुष्य के विकास की कुछ सीमा है, और वह सीमा ईश्वर की इच्छा के नीचे है। मनुष्य को चाहिए कि वह उसकी कृपा का भिखारी बन कर रहे। इसीलिए तो श्रमणेतर संस्कृति का ईश्वर कहता है—मनुष्य! तू मेरी शरण में आ, मेरा स्मरण कर। तू क्यों डरता है? मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। हाँ, मुझे अपना स्वामी मान और अपने को मेरा दास! बस इतनी-सी शर्त पूरी करनी होगी, और कुछ नहीं। **'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः।'** —गीता।

कोई भी विचारशील साधक विचार कर सकता है कि यह मान्यता मानव-समाज के नैतिक बल को घटाती है, या नहीं? कोई भी समाज इस प्रकार की विचार-परम्परा का प्रचार कर अपने आचरण के स्तर को ऊँचा नहीं कर सकता। यही कारण है कि भारतवर्ष की जनता का नैतिक स्तर बराबर नीचे गिरता आ रहा है। लोग पाप से नहीं बचना चाहते, पाप के फल से बचना चाहते हैं। और पाप के फल से बचने के लिए भी किसी ऊँची कठोर साधना की आवश्यकता नहीं है, केवल ईश्वर या ईश्वर के अवतार राम, कृष्ण आदि की शरण में पहुँच जाना ही इनकी दृष्टि में सबसे बड़ी साधना है, बस इसी से बेड़ा पार है। जहाँ मात्र अपने मनोरंजन के लिए तोते को रामनाम रटाते हुए वेश्याएँ तर जाती हों और मरते समय मोह-वश अपने पुत्र नारायण को पुकारने भर से सर्वनियन्ता नारायण के दूत दौड़े आते हों, एवं उस जीवन-भर के पापी अजामिल को स्वर्ग में ले पहुँचते हों, वहाँ भला जीवन की नैतिकता और सदाचरण की महत्ता का क्या मूल्य रह जाता है? सस्ती भक्ति, धर्माचरण के महत्त्व को गिरा देती है।

अवतारवाद के आदर्श केवल आदर्शमात्र रह जाते हैं, वे जनता के द्वारा अपनाने योग्य यथार्थता के रूप में कभी नहीं उतर पाते। अतएव जब लोग राम, कृष्ण आदि किसी अवतारी महा-पुरुष की जीवन-लीला सुनते हैं, तो किसी ऊँचे आदर्श की बात आने पर झटपट कह ऊठते हैं कि "अहा क्या कहना है ! अजी भगवान् थे, भगवान् ! भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन दूसरा यह काम कर सकता है !" इस प्रकार हमारे प्राचीन महापुरुषों के अहिंसा, दया, दान, सत्य, परोपकार आदि जितने भी श्रेष्ट एवं महान् गुण हैं, उन सबसे अवतारवादी लोग मुँह मोड़ लेते हैं, अपने को साफ बचा लेते हैं। अवतार-वादियों के यहाँ जो कुछ भी है, सब प्रभु की लीला है। वह केवल सुनने-भर के लिए है, आचरण करने के लिए नहीं। भला, सर्वशक्तिशाली ईश्वर के कामों का मनुष्य कहीं आचरण कर सकता है ?

कुछ प्रसंग तो ऐसे भी आते हैं, जो केवल दोषों को ढांकने का ही प्रयत्न करते हैं। जब कोई विचारक, किसी भी अवतार के रूप में माने जाने वाले व्यक्ति का जीवन चरित्र पढ़ता है, और उसमें कोई नैतिक जीवन की भूल पाता है, फलतः विचारक होने के नाते उचित आलोचना करता है, अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहता है, तो अवतारवादी लोग विचारक का यह अधिकार छीन लेते हैं। ऐसे प्रसंगों पर वे प्रायः कहा करते हैं—"अरे तुम क्या जानों ? यह सब उस महाप्रभु की माया है। वह जो कुछ भी करता है, अच्छा ही करता है। जिसे हम आज बुराई समझते हैं, उसमें भी कोई-न-कोई भलाई ही रही होगी ! हमें श्रद्धा रखनी चाहिए, ईश्वर का अपवाद नहीं करना चाहिए!" इस प्रकार अवतारवादी लोग श्रद्धा की दुहाई देकर स्वतंत्र चिन्तन एवं गुण दोष-परीक्षण के सिंह-द्वार को सहसा बन्द कर देते हैं। श्रीमद्भागवत के

दशम स्कन्ध में जब राजा परीक्षित ने श्री कृष्ण का गोपियों के साथ उन्मुक्त व्यवहार का वर्णन सुना तो वह चौंक ऊठा। भगवान् होकर इस प्रकार अमर्यादित आचरण! कुछ समझ में नहीं आया। उस समय श्री शुकदेव ने, देखिए, कैसा अनोखा तर्क उपस्थित किया है। वे कहते हैं—"राजन्! महापुरुषों के जीवन सुनने के लिए हैं, आचरण करने के लिए नहीं।" कोई भी विचारक इस समाधान-पद्धति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वे महापुरुष हमारे जीवन-निर्माण के लिए उपयोगी कैसे हो सकते हैं, जिनके जीवन-वृत्त केवल सुनने के लिए हों, विधि-निषेध के रूप में अपनाने के लिए नहीं? क्या इनके जीवन-चरित्रों से फलित होने वाले आदर्शों को अपनाने के लिए अवतारवादी साहित्यकार जनता को कुछ गहरी प्रेरणा देते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर यदि ईमानदारी से दिया जाए, तो इस अवतार-वाद वाली विचार-परम्परा में एक-मात्र नकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

श्रमण-संस्कृति का आदर्श, ईश्वर का अवतार न होकर मनुष्य का उत्तार है। यहाँ ईश्वर का मानव-रूप में अवतरण नहीं माना जाता, प्रत्युत मानव का ईश्वर-रूप में उत्तरण माना जाता है। अवतरण का अर्थ है—नीचे की ओर आना और उत्तरण का अर्थ है—ऊपर की ओर जाना। हाँ, तो श्रमण-संस्कृति में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा श्रेष्ठ प्राणी नहीं है। मनुष्य केवल हाड़ मांस का चलता फिरता पिंजरा नहीं है, प्रत्युत वह अनन्त-अनन्त शक्तियों का पुंज है। वह देवताओं का भी देवता है, स्वयंसिद्ध ईश्वर है। परन्तु जब तक वह संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, तब तक वह अन्धकार से घिरा हुआ सूर्य है, फलतः प्रकाश दे तो कैसे दे? सूर्य को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीरकर बाहर आना ही होगा।

हाँ, तो ज्यों ही मनुष्य अपने होश में आता है, अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को पहचानता है, पर-परिणति को त्याग कर स्व-परिणति को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है, और एक दिन अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक शक्तियों का पुंज बन कर शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा, अरिहन्त, ब्रह्म तथा ईश्वर बन जाता है। श्रमण-संस्कृति में आत्मा की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है। इसके अतिरिक्त और कोई अनादि-सिद्ध ईश्वर नहीं है। "**कर्म-बद्धो भवेज्जीव:, कर्ममुक्तस्तथा शिव:।**"

यह है श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद, जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के बल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है। यह मनुष्य के अनादिकाल से सोये हुए साहस को जगाता है, विकसित करता है और उसे सत्कर्मों की ओर मोड़ता है, किन्तु उसे पामर मनुष्य कहकर भंग नहीं करता। इस प्रकार श्रमण-संस्कृति मानव जाति को सर्वोपरि विकास-बिन्दु की ओर अग्रसर होना सिखाती है।

श्रमण-संस्कृति का हजारों वर्षों से यह प्रघोष रहा है कि वह सर्वथा परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर में बिल्कुल विश्वास नहीं रखती। इसके लिए उसे तिरस्कार, अपमान, लाञ्छना, भर्त्सना, और घृणा, जो भी कड़वे-से-कड़वे रूप में मिल सकती थी, मिली। परन्तु वह अपने प्रशस्त-पथ से विचलित नहीं हुई। उसका बारम्बार यही कहना रहा कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की स्वरूप-सम्बन्धी कोई निश्चित रूप-रेखा हमारे सामने नहीं है, जो अनादिकाल से मात्र कल्पना का विषय ही रहा है, जो सदा से अलौकिक ही रहता चला आया है, वह हम मनुष्यों को क्या आदर्श सिखा सकता है ? उसके जीवन एवं व्यक्तित्व पर से हमें क्या कुछ मिल सकता है ? हम मनुष्यों के लिए तो वही आराध्यदेव आदर्श हो सकता है, जो कभी मनुष्य ही रहा हो, हमारे

समान ही संसार के सुख-दुःख एवं मोह-माया से संत्रस्त रहा हो, और बाद में अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक जागरण के बल से संसार के समस्त सुख-भोगों को ठुकरा कर निर्वाण-पद का पूर्ण अधिकारी बना हो, फल-स्वरूप सदा के लिए कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर, राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर अपने मोक्ष-स्वरूप अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य पर पहुँच चुका हो।

श्रमण-संस्कृति के तीर्थंकर, अरिहन्त, जिन एवं सिद्ध सब इसी श्रेणी के साधक थे। वे कुछ प्रारम्भ से ही ईश्वर न थे, ईश्वर के अंश या अवतार न थे, अलौकिक देवता न थे। वे बिल्कुल हमारी तरह ही एक दिन इस संसार के क्षुद्र पामर प्राणी थे, वासनाओं के गुलाम थे, पापमल से लिप्त एवं दुःख, शोक, आधि, व्याधि से संत्रस्त थे। इन्द्रिय-सुख ही एक-मात्र उनका ध्येय था और उन्हीं वैषयिक कल्पनाओं के पीछे अनादि काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झंझावात में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु जब वे आध्यात्मिक-साधना के पथ पर आए, सम्यग्दर्शन के द्वारा जड़-चेतन के भेद को समझे, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख के अन्तर को ध्यान में लाए, फलतः संसार की वासनाओं से मुँह मोड़ कर सत्पथ के पथिक बने, और आत्म-संयम की साधना में लगातार अनेक जन्म बिताकर अन्त में एक दिन वह मानव-जन्म प्राप्त किया कि जहाँ आत्म-साधना के विकास-स्वरूप अरिहन्त, जिन एवं तीर्थंकर रूप में प्रकट हुए। श्रमण-संस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में आज भी उनके पतनोत्थान-सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण अनुभव एवं धर्म-साधना के क्रमबद्ध चरण-चिन्ह मिल रहे हैं, जिन पर यथासाध्य चलकर हर कोई साधक अपना आत्म-कल्याण कर सकता है, अरिहन्त एवं जिन बन सकता है। राग-द्वेष-विजेता अरिहन्तों के जीवन सम्बन्धी उच्च आदर्श साधक-जीवन के किए क्रमबद्ध अभ्युदय एवं निःश्रेयस के रेखा-चित्र उपस्थित करते हैं। अतएव श्रमण-

संस्कृति का उत्तारवाद केवल सुनने-भर के लिए नहीं है, अपितु जीवन के हर अंग में गहरा उतारने के लिए है। उत्तारवाद, मानव-जाति को पाप के फल से बचने की नहीं, अपितु मूलतः पाप से ही बचने की प्रेरणा देता है और जीवन के ऊँचे आदर्शों के लिए जनता के हृदय में अजर, अमर, अनन्त सत्साहस की अखण्ड ज्योति जगा देता है।

: २४ :

जैन-धर्म का कर्मवाद

दार्शनिक वादों की दुनिया में कर्मवाद भी अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। जैन धर्म की सैद्धान्तिक विचारधारा में तो कर्मवाद का अपना एक विशेष स्थान रहा है। बल्कि यह कहना, अधिक उपयुक्त होगा कि कर्मवाद के मर्म को समझे बिना जैन-संस्कृति और जैन-धर्म का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। जैन-धर्म तथा जैन-संस्कृति का भव्य प्रासाद कर्मवाद की गहरी एवं सुदृढ़ नींव पर ही टिका हुआ है। अतः आइए, कर्मवाद के सम्बन्ध में कुछ मुख्य-मुख्य बातें समझ लें।

कर्मवाद का ध्येय

कर्मवाद की धारणा है कि संसारी आत्माओं की सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति और ऊँच-नीच आदि जितनी भी विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सभी में काल एवं स्वभाव आदि की तरह कर्म भी एक प्रबल कारण है। जैन-दर्शन जीवों की इन विभिन्न परिणतियों में ईश्वर को कारण न मान कर, कर्म को ही कारण मानता है। अध्यात्म शास्त्र के मर्मस्पर्शी सन्त देवचन्द्र ने कहा है—

"रे जीव साहस आदरो, मत थावो तुम दीन;
सुख-दुःख सम्पद आपदा, पूरव कर्म अधीन।'

यद्यपि न्याय, वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों तथा उत्तर कालीन पौराणिक ग्रन्थों में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता और कर्म-फल दाता माना गया है। परन्तु जैन-दर्शन सृष्टि-कर्ता और कर्म-फल दाता के रूप में ईश्वर की कल्पना ही नहीं करता। जैन-धर्म का कहना है कि जीव जैसे कर्म करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही उसके फल भोगने में भी स्वतन्त्र है। मकड़ी खुद ही जाला पूरती है, और

खुद ही उसमें फँस भी जाती है। इस सम्बन्ध में आत्मा का लक्षण बताते हुए, एक विद्वान् आचार्य ने क्या ही अच्छा कहा है—

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा,
स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे,
स्वयं तस्माद् विमुच्यते॥"

'यह आत्मा स्वयं ही कर्म का करने वाला है और स्वयं ही उसका फल भोगने वाला भी है। स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है, और एक दिन धर्म-साधना के द्वारा स्वयं ही संसार-बन्धन से मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है।'

आक्षेप और समाधान

ईश्वरवादियों की ओर से कर्मवाद पर कुछ आक्षेप भी किए गए हैं, परन्तु जैन-धर्म का यह महान् सिद्धान्त विरोध की परीक्षाग्नि में पड़ कर और भी अधिक उज्ज्वल एवं चमकदार बन गया है। सभी आक्षेपों को बतलाने के लिए यहां अवकाश नहीं है, तथापि मुख्य मुख्य आक्षेप जान लेने आवश्यक हैं। जरा ध्यान से पढ़िए—

(१) प्रत्येक आत्मा अच्छे कर्म के साथ बुरे कर्म भी करता है। परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नहीं चाहता है। चोर, चोरी तो करता है, पर वह यह कब चाहता है कि मैं पकड़ा जाऊँ? दूसरी बात यह है कि कर्म स्वयं जड़-रूप होने से वे किसी भी ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा के बिना फल-प्रदान में असमर्थ हैं। अतएव कर्मवादियों को मानना चाहिए कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्म-फल देता है।

(२) कर्मवाद का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि कर्म से छूट कर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं। यह मान्यता तो ईश्वर और जीव में कोई अन्तर ही नहीं रहने देती, जो कि अतीव आवश्यक है।

जैन-दर्शन ने उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा युक्ति-युक्त समाधान किया है। जैन-धर्म का कर्मवाद कोई बालू रेत का दुर्ग थोड़ा ही है, जो साधारण धक्के से ही गिर जाए? इसका निर्माण तो अनेकान्तवाद की वज्र-भित्ति पर हुआ है। हाँ, तो उसकी समाधान पद्धति-देखिए—

(१) आत्मा जैसा कर्म करता है, कर्म के द्वारा उसे वैसा ही फल भी मिल जाता है। यह ठीक है कि कर्म स्वयं जड़-रूप है और बुरे कर्म का फल भी कोई नहीं चाहता; परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि चेतन के संसर्ग से कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिससे वह अच्छे बुरे कर्मों का फल जीव पर प्रकट करता रहता है। जैन-धर्म यह कब कहता है कि कर्म, चेतना के संसर्ग के विना भी फल देता है? वह तो यही कहता है कि कर्म-फल में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है।

कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य धूप में खड़ा है, और गर्म चीज खा रहा है। परन्तु चाहता है कि मुझे प्यास न लगे। यह कैसे हो सकता है? एक सज्जन मिर्च खा रहे हैं और चाहते हैं कि मुँह न जले। क्या यह सम्भव है? एक आदमी शराब पीता है, और साथ ही चाहता है कि नशा न चढ़े। क्या यह व्यर्थ की कल्पना नहीं है? केवल चाहने और न चाहने-भर से कुछ नहीं होता है। जो कर्म किया है, उसका फल भी भोगना आवश्यक है। इसी विचारधारा को लेकर जैन-दर्शन कहता है कि जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भी भोगता है। शराब का नशा चढ़ाने के लिए, शराब और शराबी के अतिरिक्त, क्या कभी किसी तीसरे ईश्वर आदि की भी आवश्यकता पड़ी है? कभी नहीं।

(२) ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन है। तब दोनों में भेद क्या रहा? भेद केवल इतना ही है कि जीव अपने कर्मों से बँधा है और ईश्वर उन बन्धनों से मुक्त हो

चुका है। एक कवि ने इसी बात को कितनी सुन्दर भाषा में रख छोड़ा है—

"आत्मा परमात्मा में कर्म ही का भेद है !
काट दे यदि कर्म तो, फिर भेद है ना खेद है।"

जैन-दर्शन कहता है कि ईश्वर और जीव में विषमता का कारण औपाधिक कर्म है। उसके हट जाने पर विषमता टिक नहीं सकती। अतएव कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर बन जाते हैं। सोने में से मैल निकाल दिया जाए तो फिर सोने के शुद्ध होने में क्या आपत्ति है? आत्मा में से कर्म-मल को दूर कर देना चाहिए, फिर शुद्ध आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जीव कर्म करने में जैसे स्वतन्त्र है, वैसे ही कर्म-फल भोगने में भी वह स्वतन्त्र ही रहता है। ईश्वर का वहाँ कोई हस्तक्षेप नहीं होता।

कर्मवाद का व्यावहारिक रूप

मनुष्य जब किसी कार्य को आरम्भ करता है, तो उस में कभी-कभी अनेक विघ्न और बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का मन चंचल हो जाता है, और वह घबरा उठता है। इतना ही नहीं, वह किं-कर्तव्य-विमूढ़ बन कर कभी-कभी अपने आस-पास के संगी-साथियों को अपना शत्रु समझने की भूल भी कर बैठता है। फल-स्वरूप अंतरंग कारणों को भूल कर केवल बाह्य दृश्य कारणों से ही जूझने लगता है।

ऐसी दशा में मनुष्य को पथ-भ्रष्ट होने से बचाकर सत्पथ पर लाने के लिए किसी सुयोग्य गुरु की बड़ी भारी आवश्यकता है। यह गुरु और कोई नहीं, कर्म-सिद्धान्त ही हो सकता है। कर्मवाद के अनुसार मनुष्य को यह विचार

करना चाहिए कि "जिस अन्तरंग भूमि में विघ्न-रूपी विष-वृक्ष अंकुरित और फलित हुआ है, उसका बीज भी उसी भूमि होना में चाहिए। बाहरी शक्ति तो जल और वायु की भांति मात्र निमित्त कारण हो सकती है। असली कारण तो मनुष्य के अपने अन्तर में ही मिल सकता है, बाहर नहीं। और वह कारण अपना किया हुआ कर्म ही है और कोई नहीं। अस्तु, जैसे कर्म किए हैं, वैसा ही तो उसका फल मिलेगा। नीम का वृक्ष लगाकर यदि कोई आम के फल चाहे तो कैसे मिलेंगे? मैं बाहर के लोगों को व्यर्थ ही दोष देता हूँ। उनका क्या दोष है? वे तो मेरे अपने कर्मों के अनुसार ही इस प्रतिकूल स्थिति में परिणत हुए हैं। यदि मेरे कर्म अच्छे होते, तो वे भी अच्छे न हो जाते? जल एक ही है, परन्तु वह तमाखू के खेत में कड़वा बन जाता है, तो ईख के खेत में मीठा हो जाता है। जल, अच्छा या बुरा नहीं है। अच्छा और बुरा है, ईख और तमाखू। यही बात मेरे और मेरे संगी-साथियों के सम्बन्ध में भी है। मैं अच्छा हूँ तो सब अच्छे हैं, और मैं बुरा हूँ तो सब बुरे हैं।"

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिए मानसिक शान्ति की बड़ी आवश्यकता है। और वह इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त से ही मिल सकती है। आँधी और तूफान में जैसे हिमाचल अटल और अडिग रहता है, वैसे ही कर्मवादी मनुष्य अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शान्त तथा स्थिर रह कर अपने जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है। अतएव कर्मवाद मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में बड़ा उपयोगी प्रमाणित होता है।

कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता और श्रेष्ठता के सम्बन्ध में डा० मैक्समूलर के विचार बहुत ही सुन्दर और विचारणीय हैं। उन्होंने लिखा है—

"यह तो सुनिश्चित है कि कर्मवाद का प्रभाव मनुष्य-जीवन पर बेहद पड़ा है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के अतिरिक्त भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्वकृत कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज़ को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त-भाव से कष्ट को सहन कर लेगा। और यदि वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहन-शीलता के द्वारा पुराना कर्ज़ चुकाया जा सकता है, तथा उसी से भविष्यत् के लिए नीति की समृद्धि एकत्रित की जा सकती है, तो उस को भलाई के पथ पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। यह नीति-शास्त्र का मत और पदार्थ-शास्त्र का बल-संरक्षण-सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी भी सत्ता का नाश नहीं होता। किसी भी नीति-शिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही क्यों न शङ्का हो, पर, यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म-सिद्धान्त सबसे अधिक व्यापक क्षेत्र में माना गया है। उससे लाखों करोड़ों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं। और कर्म-सिद्धान्त से मनुष्यों को वर्तमान कालीन संकट झेलने की शक्ति को प्राप्त करने तथा भावी जीवन को सुधारने में भी उत्तेजना, प्रोत्साहन और आत्मिक बल मिलता है।"

पाप और पुण्य

साधारण जनता यह समझती है कि किसी को कष्ट एवं दुःख देने से पाप-कर्म का बन्ध होता है और इसके विपरीत किसी को सुख एवं सुविधा प्रदान करने से पुण्य-कर्म का बन्ध होता है। परन्तु जब हम दार्शनिक दृष्टि से जैन-धर्म का चिन्तन करते हैं तो पाप और पुण्य की यह उपर्युक्त कसौटी खरी नहीं उतरती है। क्योंकि कितनी ही बार उक्त कसौटी के सर्वथा विपरीत परिणाम भी परिलक्षित होते हैं।

एक मनुष्य किसी को कष्ट देता है। जनता समझती है कि वह पाप-कर्म बांध रहा है, परन्तु बांधता है अन्दर में पुण्य-कर्म। और कभी कोई मनुष्य किसी को सुख देता है। ऊपर से वह पुण्य-कर्म बाँधने वाला लगता है, परन्तु बांध रहा है अन्दर में पाप-कर्म।

इस गम्भीर भाव को समझने के लिए कल्पना कीजिए—एक डाक्टर किसी फोड़े के रोगी का ऑपरेशन करता है। उस समय रोगी को कितना कष्ट होता है, वह कितना चिल्लाता है? परन्तु डाक्टर यदि शुद्ध-भाव से चिकित्सा करता है, तो वह पुण्य बांधता है, पाप नहीं। माता-पिता हित-शिक्षा के लिए अपनी सन्तान को ताड़ते हैं, नियन्त्रण में रखते हैं, तो क्या वे पाप बांधते हैं? नहीं, वे पुण्य बांधते हैं। इसके विपरीत एक मनुष्य ऐसा है, जो दूसरों को ठगने के लिए मीठा बोलता है, सेवा करता है, भजन पूजा भी करता है, तो क्या वह पुण्य बांधता है? नहीं, वह भयङ्कर पाप-कर्म का बन्ध करता है। अन्दर में ज़हर रख कर ऊपर के लोग दिखाऊ अमृत से कोई भी पुण्य कर्म नहीं बांध सकता।

अतएव जैन-धर्म का कर्म सिद्धान्त कहता है कि पाप और पुण्य का बन्ध किसी भी बाह्य क्रिया पर आधारित नहीं है। बाह्य क्रियाओं की पृष्ठभूमि-स्वरूप अन्तःकरण में जो शुभाशुभ भावनाएँ हैं, वे ही पाप और पुण्य-बन्ध की खरी कसौटी हैं। क्योंकि जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसा ही शुभाशुभ कर्म-फल मिलता है। **'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।'**

कर्म का अनादित्व

दार्शनिक-क्षेत्र में यह प्रश्न चिरकाल से चक्कर काट रहा है कि कर्म सादि है अथवा अनादि? सादि का अर्थ है—आदिवाला, जिसका एक दिन आरम्भ हुआ हो। अनादि

का अर्थ है—आदि-रहित, जिसका कभी भी आरम्भ न हुआ हो, जो अनन्त काल से चला आ रहा हो। भिन्न-भिन्न दर्शनों ने इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न उत्तर दिए हैं। जैन-दर्शन भी इस प्रश्न का अपना एक अकाट्य उत्तर रखता है। वह अनेकान्त की भाषा में कहता है कि कर्म सादि भी है और अनादि भी। इसका स्पष्टीकरण यह है कि कर्म किसी एक विशेष कर्म-व्यक्ति की अपेक्षा से सादि भी है और अपने परम्परा-प्रवाह की दृष्टि से अनादि भी है।

कर्म का प्रवाह कब से चला? इस प्रश्न का 'हाँ' में उत्तर है ही नहीं। इसीलिए जैन-दर्शन् का कहना है कि कर्म प्रवाह से अनादि है। और इधर प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रिया में नित्य नए कर्मों का बन्धन करता रहता है। अतः अमुक कर्मविशेष की अपेक्षा से कर्म को सादि भी कहा जाता है।

भविष्यत्काल के समान अतीत काल भी असीम एवं अनन्त है। अतएव भूतकालीन अनन्त का वर्णन 'अनादि' या 'अनन्त' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से हो ही नहीं सकता। इसीलिए कर्म-प्रवाह को अनादि कहे बिना दूसरी कोई गति नहीं है। यदि हम कर्म-बन्ध की अमुक निश्चित तिथि मानें, तो प्रश्न है कि उससे पहले आत्मा किस रूप में था? यदि शुद्ध रूप था, कर्म-वन्ध से सर्वथा रहित था, तो फिर सर्वथा शुद्ध आत्मा को कर्म कैसे लगे? यदि सर्वथा शुद्ध आत्मा को भी कर्म लग जाएँ, तो फिर मोक्ष-दशा में सर्वथा शुद्ध होने पर भी कर्म-बन्ध का होना मानना पड़ेगा। इस दशा में मोक्ष का मूल्य ही क्या रहेगा? केवल मुक्त आत्मा की ही क्या बात? ईश्वर-वादियों का शुद्ध ईश्वर भी फिर तो कर्म-बन्धन के द्वारा विकारी एवं संसारी हो जायगा। अतएव शुद्ध अवस्था में किसी भी प्रकार से कर्म-बन्ध का

मानना, युक्ति-युक्त नहीं है। इसी अमर सत्य को ध्यान में रखकर जैन-दर्शन ने कर्म-प्रवाह को अनादि माना है।

कर्म-बन्ध के कारण

यह एक अटल सिद्धान्त है कि कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं होता। बीज के बिना वृक्ष कभी पैदा होता है? कभी नहीं। हां, तो कर्म भी एक कार्य है। अतः उसका कोई-न-कोई कारण भी अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कर्म-स्वरूप कार्य किसी प्रकार भी अस्तित्व में नहीं आ सकता।

जैन-धर्म में कर्म-बन्ध के मूल कारण दो बतलाए हैं—राग और द्वेष। भगवान् महावीर ने अपने पावापुर के अंतिम प्रवचन में कहा है—'**रागो य दोसो विय कम्म-बीजं।**' अर्थात् राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं, मूल कारण हैं। आसक्ति-मूलक प्रवृत्ति को राग और घृणा-मूलक प्रवृत्ति को द्वेष कहते हैं। पुण्य-कर्म के मूल में भी किसी-न-किसी प्रकार की सांसारिक मोह-माया एवं आसक्ति होती है। घृणा और आसक्ति से रहित शुद्ध प्रवृत्ति तो कर्म-बन्धन को तोड़ती है, बांधती नहीं है।

कर्म-बन्धन से मुक्ति

कर्म-बन्धन से रहित होने का नाम मुक्ति है। जैन-धर्म की मान्यता है कि जब आत्मा राग-द्वेष के बन्धन से सर्वथा छुटकारा पा लेता है, आगे के लिए कोई नया कर्म बाँधता नहीं है और पुराने बँधे हुए कर्मों को भोग लेता है, या धर्म-साधना के द्वारा पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है, तो फिर सदा काल के लिए मुक्त हो जाता है, अजर अमर हो जाता है। जब तक कर्म और कर्म के कारण राग-द्वेष से मुक्ति नहीं मिलती, तब तक आत्मा किसी भी दशा में मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि कर्म-बन्धन से मुक्ति पाने के क्या साधन हैं, क्या उपाय हैं ? जैन-धर्म इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर देता है। वह कहता है कि—आत्मा ही कर्म बांधने वाला है और वही उसे तोड़ने वाला भी है। कर्मों से मुक्ति पाने के लिए वह ईश्वर के आगे गिड़गिड़ाने अथवा नदी-नालों और पहाड़ों पर तीर्थ-यात्रा के रूप में भटकने के लिए प्रेरणा नहीं देता। वह मुक्ति का साधन अपनी आत्मा में ही तलाश करता है। जैन तीर्थंकरों ने मोक्ष-प्राप्ति के तीन साधन माने हैं :—

(१) **सम्यग् दर्शन**—आत्मा है, वह कर्मों से बँधा हुआ है और एक दिन वह बन्धन से मुक्त होकर सदा काल के लिए अजर अमर परमात्मा भी हो सकता है, इस प्रकार के दृढ़ आत्म-विश्वास का नाम ही सम्यग् दर्शन है। सम्यग् दर्शन के द्वारा आत्मा के हीनता और दीनता आदि के भाव क्षीण हो जाते हैं और आत्म-शक्ति के प्रचण्ड तेज़ में अटल विश्वास के अचल भाव जागृत हो जाते हैं।

(२) **सम्यग् ज्ञान**—चैतन्य और जड़ पदार्थों के भेद का ज्ञान करना, संसार और उसके राग-द्वेषादि कारण तथा मोक्ष और उसके सम्यग्-दर्शनादि साधनों का भली-भाँति चिन्तन-मनन करना, सम्यग् ज्ञान कहलाता है। सांसारिक दृष्टि से कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो, यदि उसका ज्ञान मोह-माया के बन्धनों को ढीला नहीं करता है, विश्व-कल्याण की भावना को प्रोत्साहित नहीं करता है, आध्यात्मिक जागृति में बल नहीं पैदा करता है, तो वह ज्ञान, सम्यग् ज्ञान नहीं कहला सकता। सम्यग् ज्ञान के लिए आध्यात्मिक चेतना एवं पवित्र उद्देश्य की अपेक्षा है। मोक्षाभिमुखी आत्म-चेतना ही वस्तुतः सम्यग् ज्ञान है।

(३) **सम्यक् चारित्र**—विश्वास और ज्ञान के अनुसार आचरण भी आवश्यक है। जैन धर्म चारित्र-प्रधान धर्म है। वह केवल भावनाओं और संकल्पों के भरोसे ही नहीं बैठा रहता। उचित पुरुषार्थ ही जीवन का मार्ग है। अतएव विश्वास और ज्ञान के अनुसार अहिंसा एवं सत्य आदि सदाचार की साधना करना ही सम्यक् चरित्र है।

[प्रथम कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना के आधार पर]

: २५ :

आत्म-धर्म

'धर्म क्या वस्तु है ? धर्म किसे कहते हैं ?'—यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है। भारतवर्ष के जितने भी मत, पन्थ, या सम्प्रदाय हैं, सभी ने उक्त प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। किसी ने किसी बात में धर्म माना है, तो किसी ने किसी बात में धर्म माना है। सबके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

पुराने मीमांसा संप्रदाय के मानने वाले कहते हैं कि यज्ञ करना धर्म है। यज्ञ में अश्व, अज आदि पशुओं का हवन करने से बहुत बड़ा धर्म होता है, और मनुष्य स्वर्ग को पाता है। भगवान् महावीर के समय में इस मत का बड़ा प्रचलन था। भगवान् का संघर्ष इसी वैदिक संप्रदाय से हुआ था। आज भी देवी-देवताओं के आगे पशु-बलि करने वाले लोग उसी सम्प्रदाय के ध्वंसावशेष हैं।

पौराणिक धर्म के मानने वाले कहते हैं कि भगवान की भक्ति करना ही धर्म है। मनुष्य कितना ही पापी क्यों न हो, यदि वह भगवान की शरण स्वीकार कर लेता है, उसका नाम जपता है, तो वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। श्री कृष्ण, श्री राम, और शिवजी आदि की उपासना करने वाले, उसी पौराणिक धर्म के मानने वाले हैं। भगवद्-भक्ति ही पौराणिक धर्म की विशेषता है।

और कितने उदाहरण दिये जायँ ? भिन्न-भिन्न विचारधाराओं में धर्म का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न रूप से वर्णन किया गया है। कुछ लोग नहाने में धर्म मानते हैं, कुछ लोग ब्राह्मणों को भोजन कराने में धर्म मानते हैं, कुछ लोग पूजा, पाठ, जप, तिलक, छापा आदि में धर्म मानते हैं। सब लोग धर्म का स्थूल रूप जनता

के सामने रख रहे हैं। कौन है जो उसका मौलिक सूक्ष्म रूप उपस्थित करे ?

जैन-धर्म का सूक्ष्म चिन्तन संसार में प्रसिद्ध है। वह वस्तु के बाह्य रूप पर उतना ध्यान नहीं देता, जितना कि उसके सूक्ष्म रूप पर ध्यान देता है। जैन-धर्म कहता है—'**वत्थुसहावो धम्मो**।' वस्तु का निज स्वभाव ही धर्म है।' धर्म कोई पृथक् वस्तु नहीं है। वस्तु का जो अपना असली स्वभाव है, स्वरूप है, वही धर्म है। और जो पर-वस्तु के मिलाप से नकली बिगड़ा हुआ स्वभाव है, जिसे दार्शनिक भाषा में विभाव कहते हैं, वही अधर्म है।

उदाहरण के लिए जल को लिया जा सकता है। जल का असली स्वभाव क्या है ? शीतल रहना, तरल रहना, स्वच्छ रहना ही जल का मूल स्वभाव है। इसके विपरीत उष्ण होना, जम जाना, मलिन होना, असली स्वभाव नहीं है, विभाव है। क्योंकि उष्णता आदि विपरीत धर्म जल में दूसरी अग्नि आदि वस्तु के मेल से आते हैं।

अब हमें विचार करना है कि-हम आत्मा हैं, हमारा स्वभाव या धर्म क्या है ? जो हम आत्माओं का स्वभाव होगा, वही धर्म सच्चा धर्म होगा। उसी से वास्तविक कल्याण हो सकेगा।

आत्मा का धर्म सत्, चित्, और आनन्द है। सत् का अर्थ सत्य है, जो कभी मिथ्या न हो सके। चित् का अर्थ चेतना है, ज्ञान है; जो कभी जड़स्वरूप न हो सके। आनन्द का अर्थ सुख है, जो कभी दुःख-रूप न हो सके। आत्मा का अपना धर्म यही है। इसके विपरीत संसार में भ्रमण करना, मिथ्या विश्वासों में उलझे रहना, अज्ञान से आवृत रहना, आधि-व्याधि आदि का दुःख होना, आत्मा का अपना असली निज-धर्म नहीं है। यह विभाव है, अधर्म है। आत्मा से अलग विजातीय कर्मों के मेल के कारण ही यह सब मिथ्या प्रपंच हैं। यही कारण है कि आज संसार में सब आत्माएँ एक समान नहीं हैं। सब भिन्न-भिन्न

अवस्थाओं और स्वरूपों में चक्कर काट रही हैं। यदि यह सब आत्माओं का अपना स्वरूप होता, तो इतनी भिन्नता क्यों होती ? वस्तु का अपना धर्म तो एक ही होता है, वहाँ भेद कैसा ? अस्तु यह सिद्ध है कि आत्माओं की वर्तमान अवस्था कर्मों का फल है, और इसी कारण भिन्नता है। जैन-धर्म कहता है कि जब आत्माएँ मोक्ष-दशा में पहुँच जायँगी, तो सब एक समान हो जायँगी; फलतः वहाँ छोटे-बड़े का, शुद्ध-अशुद्ध का कोई भेद नहीं रहेगा। और मोक्ष का वह शुद्ध स्वरूप ही आत्माओं का अपना असली स्वभाव है, धर्म है।

ऊपर की पंक्तियों में आत्मा का धर्म जो सत्, चित्, आनन्द बताया है, वही जैन-आगमों की भाषा में सम्यग् दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चरित्र कहलाता है। इन्हीं को रत्नत्रय कहते हैं। आत्मा की यही अन्तरंग विभूति है, सम्पत्ति है। जब आत्मा विभाव परिणति को त्याग कर स्वभाव परिणति में आता है, तो रत्नत्रय रूप जो अपना शुद्ध स्वरूप है, उसे ही अपनाता है। अस्तु, आत्मा का सच्चा धर्म यही रत्नत्रय है। बाह्य क्रिया-काण्डों में उलझ कर जनता व्यर्थ ही कष्ट पाती है। वह भेद-बुद्धि का मार्ग है, अभेद-बुद्धि का नहीं। निश्चय दृष्टि में तो यही धर्म का शुद्ध स्वरूप है।

१ : सम्यग् दर्शन

सच्चा देव अरिहन्त है। सच्चा गुरु निर्ग्रन्थ है और सच्चा धर्म जीवदया है—इन पर दृढ़ विश्वास रखना, सम्यग्दर्शन है। रागी-द्वेषी देवताओं, भोगी-विलासी पाखंडी गुरुओं और जीव-हिंसारूप धर्मों के मानने से आत्मा सत्य-स्वरूप नहीं रहती, मिथ्यास्वरूप हो जाती है, अतः यह सम्यग्दर्शन नहीं कहलाता।

२ : सम्यग् ज्ञान

जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तों का सच्चा, भ्रान्ति-रहित ज्ञान ही सम्यग्

ज्ञान है। जब तक आत्मा को जीवादि पदार्थों का सच्चा ज्ञान नहीं होता, तब तक वह अज्ञान की भ्रान्ति में से निकल कर सत्य के प्रकाश में नहीं आ सकता।

३ : सम्यक् चारित्र

सम्यक् का अर्थ सच्चा और चारित्र का अर्थ आचरण है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि नियमों का पालन करना ही सदाचार है। जिस आत्मा में जितना राग-द्वेष कम होगा, जितना मोह-माया का भाव न्यून होगा, वह उतना ही सम्यक् चारित्र का पालन करने वाला बन जाता है। आत्मा में चंचलता राग-द्वेष के कारण से ही है। जब राग-द्वेष दूर हो जायँगे, तब आत्मा शुद्ध, निष्कलंक, अचंचल हो जायगा। और इस प्रकार सर्वतो भावेन अचंचल अवस्था का हो जाना ही मोक्ष है।

किं बहुना, आत्मा के उद्धार के लिए यह रत्नत्रय-रूप धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। अस्तु, बाह्य प्रपंचों और द्वन्द्वों को छोड़कर एवं अपनी अन्तरंग दशा में पहुँच कर सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की ही शुद्ध भाव से उपासना करनी चाहिए। रत्नत्रय धर्म ही सच्चा आत्म-धर्म है। और यही आत्म-धर्म, जैनधर्म है।

: २६ :

वनस्पति में जीव

वृक्षों और वनस्पतियों में जीव होने की बात हम भारतवासी आज से नहीं, कल से नहीं, हजारों वर्षोंसे मानते आए हैं। हमारे तत्त्व-दर्शी ज्ञानियों ने अपनी विकसित आत्म-शक्ति के द्वारा वनस्पतियों में जीव होने की बात का पता बहुत पहले से हीं लगा लिया था। जैन-धर्म में तो स्थान-स्थान पर वृक्षों में जीव होने की घोषणा की गई है। भगवान् महावीर ने आचाराङ्ग सूत्र में वनस्पति की तुलना मानव शरीर से बतलाई है। आचारांग का भाव इन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है—

(१) जिस प्रकार मनुष्य जन्म लेता है; युवा होता है और बूढ़ा होता है, उसी प्रकार वृक्ष भी तीनों अवस्थाओं का उपभोग करता है।

(२) जिस प्रकार मनुष्य में चेतना-शक्ति होती है, उसी प्रकार वृक्ष भी चेतना-शक्ति रखता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, आघात आदि सहन करता है।

(३) जिस प्रकार मनुष्य छीजता है, कुम्हलाता है और अन्त में क्षीण होकर मर जाता है,उसी प्रकार वृक्ष भी आयु की समाप्ति पर छीजता है, कुम्हलाता है और अन्त में मर जाता है।

(४) जिस प्रकार भोजन करने से मनुष्य का शरीर बढ़ता है और न मिलने से सूख जाता है; उसी प्रकार वृक्ष भी खाद और पानी की खूराक मिलने से बढ़ता है, विकास पाता है, और उसके अभाव में सूख जाता है।

आज का युग, विज्ञान का युग है। आजकल प्रत्येक बात की परीक्षा वैज्ञानिक प्रयोगों की कसौटी पर चढ़ाकर की जाती है।

यदि विज्ञान की कसौटी पर बात खरी उतरती है, तो मानी जाती है, अन्यथा नहीं। जैन-धर्म की यह वृक्ष में जीव होने की बात पहले केवल मज़ाक की चीज़ समझी जाती थी, परन्तु जब से इधर डा० जगदीशचन्द्र वसु महोदय ने अपने अद्भुत आविष्कारों द्वारा यह सिद्ध किया है कि वृक्ष में जीव है, तब से पुराने धर्म-शास्त्रों की खिल्ली उड़ाने वाली जनता आश्चर्य-चकित रह गई है।

वसु महोदय के आविष्कारों से पता चला है कि हमारी ही तरह वृक्षों में भी जीवन है। भोजन, पानी और हवा की जरूरत उन्हें भी पड़ती है। हमारी ही तरह वे भी जिन्दा रहते हैं और बढ़ते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उनका काम करने का तरीका हम से कुछ भिन्न है।

चलती हुई सांस देख कर ही मनुष्य जिन्दा कहा जाता है। अतएव पेड़-पौधे भी सांस लेते हैं। और मजा यह है कि उनका सांस लेने का तरीका हम से बहुत मिलता-जुलता है। हम सिर्फ फेफड़े से ही सांस नहीं लेते, प्रत्युत हमारे शरीर पर लगा चमड़ा भी इस काम में हमारी मदद करता है। ठीक इसी तरह पौधे भी अपने सारे शरीर से सांस लेते हैं। तुम्हें यह जान कर आश्चर्य होगा कि बीज भी हवा में सांस लेते हैं। ऐसे यन्त्र अब बन गए हैं, जो ठीक नाप-तौल कर के बतला देंगे कि अमुक बीजों ने इतने समय में इतनी ऑक्सिजन हवा में से खींच ली है।

पौधों में स्मरण-शक्ति का भी अभाव नहीं हैं। यह बात सभी जानते हैं कि बहुत से पौधे रात्रि के समीप आने पर अपने पत्तों को सिकोड़ लेते हैं और फल के डंठल को नीचे झुका देते हैं। इसका कारण सूरज की अन्तिम किरणों का पौधों पर पड़ना बताया जाता है। लेकिन वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके देखा है कि अंधेरे कमरे में बन्दकर देने से भी, पौधे, ठीक सूर्यास्त के समय अपने पत्तों को सिमेटने लगते हैं और सूरज केउदय होते समय खिल उठते हैं। सच बात तो यह है कि पौधों के जीवन-कोषों को इस

बात का स्मरण रहता है। रजनी गन्धा रात होते ही महकने लगती है।

वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि पौधे पशुओं की तरह सर्दी-गरमी, दुःख-सुख आदि का ज्ञान भी रखते हैं। पौधों में प्यार तथा घृणा का भाव भी विद्यमान है। जो उनके साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, उन्हें वे चाहते हैं, और जो उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, उन्हें वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कुछ पौधे बहुत अधिक फैशन-पसन्द होते हैं। गुलाब का फूल तुरन्त बदबू का अनुमान कर लेता है और अपनी पंखुड़ियों को सिकोड़ लेता है। जरा मैले हाथों से कमल को छू दीजिए, वह मुर्झा जायगा।

चोट लगने या छिल जाने पर जैसे हमें तकलीफ होती है, उसी तरह पौधोंको भी होती है। अन्य प्राणियोंके समान वृक्षोंके शरीर में भी स्नायु-जाल फैला रहता है। जैसे मनुष्य के किसी अङ्ग में पीड़ा होने पर वह स्नायु-सूत्रों के द्वारा सारे शरीर में फैल जाती है, वैसे ही वृक्षों के शरीर में भी आघात की उत्तेजना सर्वत्र फैल जाती है।

अपनी इन्द्रियों द्वारा पौधे सर्दी-गर्मी आदि का तो अनुभव करते ही हैं, साथ ही विष और उत्तेजक पदार्थों का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। डा० वसु ने एक यन्त्र ऐसा भी बनाया है, जो नाजुक पत्तियों की धड़कन का पता बताता है। शराब पीकर पौधे भी उत्तेजित हो जाते हैं, इस बात का पता इस यन्त्र की सहायता से सहज ही में लग सकता है। पौधे की जड़ में शराब डाल दो और फिर यन्त्र से उस पौधे को सम्बन्धित कर दो, तो तुम देखोगे कि उसकी पत्तियों में पूर्वापेक्षया अब अधिक धड़कन होने लगी है।

क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी, सभी दिन-भर काम करने के बाद थक जाते हैं और रात में उन्हें आराम करने की जरूरत पड़ती है। पेड़-पौधे भी इसी प्रकार थक कर रात में आराम

करते हैं। सूरज के डूब जाने के बाद यदि तुम बाग में जाओ, तो देखोगे कि पत्तियों का रंग-ढंग दिन-जैसा नहीं है। ऐसा लगता है, जैसे वे चुपचाप पड़ी सो रही हों। 'क्लोवर' नामक पौधे की पत्तियों में यह परिवर्तन बहुत साफ दिखाई देता है। उसकी पत्तियाँ रात के समय झुक कर तने से सट जाती हैं। हिन्दुस्तान में पाया जाने वाला 'टेलीग्राफ प्लेट' रात में पत्ती-पर-पत्ती रख कर सोता है।

जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार वृक्षों के स्वभाव भी बहुत विचित्र प्रकार के होते हैं। कुछ वृक्ष ऐसे हैं, जो मांसाहार भी करते हैं। मांसाहारी पौधों की लगभग पांच-सौ जातियाँ पाई गई हैं। एक पौधा 'ब्लैडर वर्ट' होता है, यह जल में रहने वाला है। इसके तने पर छोटे-छोटे थैले लगे रहते हैं। इन थैलों के मुँह पर एक दरवाजा-सा लगा रहता है। ज्यों ही कोई कीड़ा अन्दर पहुँचता है, त्यों ही दरवाजा अपने-आप बन्द हो जाता है। बिचारा कीड़ा अन्दर-ही-अन्दर छटपटाकर मर जाता है। और उसका रक्त वह वृक्ष चूस लेता है।

अफ्रीका के घने जंगलों में ऐसे पेड़ पाये गए हैं, जो बड़े-बड़े जानवरों को भी दूर से अपना शाखा-जाल फैलाकर पकड़ लेते हैं। उनके शिकंजे से निकल भागना फिर असंभव हो जाता है। ये पेड़ मनुष्यों को भी यथावसर चट कर जाते हैं। मनुष्य के पास आते ही उसे भी अपनी टहनियों से पकड़ लेते हैं और चारों ओर से टहनियों के बीच दबा कर रक्त चूस लेते हैं। कितना भयंकर कर्म है इनका! वृक्षों की सजीवता का यह प्रबल प्रमाण है।

पुनश्च

लेख का उपसंहार किया जा चुका है, तथापि वनस्पति में जीव की सिद्धि के लिए अभी कुछ कहना शेष है। लेखक के सामने विश्व-विहार नामक विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तक है, जिसमें इस

सम्बन्ध की खासी अच्छी जानकारी संगृहीत है। पाठकों के ज्ञानवर्द्धन के लिए संक्षेप में उसका सार यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा।

वृक्ष, जानवरों से बहुत-सी बातों में मिलते हैं। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि केवल जीव-धारी ही अपने माता-पिता और पड़ोसियों का चरित्र ग्रहण करता है। अस्तु यदि पड़ौस स्वास्थ्यप्रद है, तो पौधे मजबूत और मोटे होंगे। और जिस तरह तन्दुरुस्त बच्चों, स्त्रियों और पुरुषों की मुस्कराहट देख कर जाना जाता है कि वे स्वस्थ हैं, उसी प्रकार पौधों की सुन्दर पत्तियाँ और बढ़िया फूलों से मालूम हो जाता है कि इन्हें अनुकूल पड़ौस मिला है।

जीवित रहने के लिए हमें साँस लेने की जरूरत होती है। यही बात पौधों के लिए भी लागू होती है। पौधे को यदि ऑक्सिजन अर्थात् प्राणप्रद वायु न मिले तो वह सूख कर नष्ट हो जायगा। जिस प्रकार हम अपने नथनों के द्वारा हवा को अन्दर खींचते हैं, उसी प्रकार पौधे भी। यद्यपि पौधों के सांस लेने वाले छिद्र इतने छोटे होते हैं कि उन्हें देखने के लिए अणु-वीक्षण यंत्र की आवश्यकता होती है। जन्म लेते ही प्रत्येक जन्तु और पौधे का पहला काम सांस लेना है, और वह उसके जीवन के अन्त तक जारी रहता है।

पौधों की लड़ाई भी, जानवरों की लड़ाई की तरह ही भयानक होती है। एक या दो महीने तक यदि फुलवाड़ी में कोई काम न किया जाय, तो नागर मोथा आदि बड़े-बड़े जंगली पौधे उग कर उन फूलों के दुर्बल पौधों को मार देते हैं। हम प्रायः यह देखते हैं कि बहुत-सीं लताएँ और बेल वृक्षों पर चढ़ कर उन्हीं पर जड़ जमा लेते हैं, फलतः उनसे खुराक हासिल करती हैं, जिससे वे वृक्ष कमजोर होकर मर तक जाते हैं।

जिस तरह जानवरों में नर और मादा होते हैं, उसी प्रकार पौधों में भी नर और मादा होते हैं, जिनसे बच्चों की तरह पौधों का जन्म होता है।

जानवर एक खास समय तक काम करने के बाद आराम चाहते हैं। इसी प्रकार पौधे भी साधारणतः दिन में ही काम करते हैं, अर्थात् जमीन से अपनी खूराक खींचते हैं और उसे खाने के काम में लाते हैं। सूर्यास्त के बाद वे अपना काम बन्द कर देते हैं और जिस तरह जानवर सोते हैं, वैसे ही ये भी आराम करते हैं।

जानवरों की तरह पौधे भी आपस में खूब स्पर्धा करते हैं, और अन्त में वही जीत कर जड़ जमा लेता है, जो सबसे अधिक मजबूत होता है।

यदि आप इन सब बातों पर अच्छी तरह विचार करेंगे, तो पौधों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करने लगेंगे, जैसा कि अपने आप जानवरों या बच्चों के साथ करते हैं। भगवान महावीर ने वृक्षों के प्रति भी दयालुता के व्यवहार का उपदेश दिया है, और गृहस्थों को भी वनस्पति के व्यर्थ उन्मूलन से रोका है।

: २७ :

जैन-धर्म और अस्पृश्यता

जैन-धर्म अस्पृश्यता का कट्टर विरोधी है। प्रचलित जात-पाँत-सम्बन्धी अस्पृश्यता के लिए जैन-धर्म में अणुमात्र भी स्थान नहीं है। अस्पृश्यता के विरुद्ध जितनी बग़ावत जैन-धर्म ने की है, उतनी शायद ही किसी अन्य धर्म ने की हो। जैन-धर्म का कहना है कि 'अस्पृश्यता मानव जाति के लिए भीषण कलंक है। अतः मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह इस कलंक को धो डालने के लिए जो-कुछ प्रयत्न कर सकता हो करे एवं मनुष्यता के नाते अपने अस्पृश्य कहे जाने वाले मानव-बन्धुओं को प्रेम के साथ हृदय से लगाए।'

उच्चता और नीचता के सम्बन्ध में जैन-धर्म की मान्यता है कि कोई भी मनुष्य जन्म से ऊँच-नीच नहीं होता। ऊँच-नीच की व्यवस्था तो मनुष्य के कृत कर्मों पर है। जो मनुष्य उच्च अर्थात् श्रेष्ठ कर्म करता है, वह उच्च कहलाता है, और जो नीच अर्थात् बुरे कर्म करता है, वह नीच कहलाता है। यह उच्च तथा नीच कर्म की व्यवस्था भी लौकिक जीवन-वृत्ति (पेशा) के साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यह बात नहीं है कि मैला साफ़ करने वाला भंगी, जिसे लोग नीच समझते हैं, नीच है और पंडिताई का काम करने वाला ब्राह्मण, जिसे लोग उच्च समझते हैं, उच्च है। जैन धर्म का तो यह सिद्धान्त है कि आत्म-शक्ति को विकसित करने वाले अहिंसा, सत्य, परोपकार, संयम आदि सद्‌गुण हैं। मानव जीवन की पवित्रता के मूल आधार ये ही पवित्र आचरण हैं। अतएव न्यूनाधिक रूप से जिस मनुष्य में इन श्रेष्ठ गुणों का विकास हो, वह उच्च है, श्रेष्ठ है, पूज्य है एवं पवित्र है। और जिसमें हिंसा, असत्य,

व्यभिचार, निर्दयता आदि दुर्गुणों का अस्तित्व हो, वह नीच है, अधम है एवं अपवित्र है। भले ही फिर वह जन्म से ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, भंगी हो या और कोई भी हो! मानवता के क्षेत्र में ब्राह्मण और भंगी के लिए कोई अलग-अलग कायदे-कानून नहीं हैं।

यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखने की है। वह यह कि जैन-धर्म में सदाचार रूप अपवित्रता को लेकर घृणा करना सिखाया है, परन्तु वह घृणा पापों से है, मनुष्यों से नहीं। कोई भी सभ्य धर्म मनुष्यों से घृणा करने का पाठ नहीं पढ़ा सकता। यदि कोई धर्म ऐसा करता भी है, तो वह धर्म नहीं, प्रत्युत मानव-सभ्यता के मूल पर कुठारा-घात करने वाला भयंकर अधर्म है।

जैन-धर्म का मानव-मात्र के लिए यही पवित्र उपदेश है कि आजीवन दुराचार-रूप पापों का तिरस्कार करो, पापी का नहीं। तुम्हें पाप के प्रति तिरस्कार करने का अधिकार है, मनुष्य के प्रति नहीं। यदि कहीं तुमने धार्मिक-मतान्धता में आकर पापी के प्रति घृणा अथवा तिरस्कार की भावना रखी, तो समझ लो, धर्म तो क्या, तुम अपना मनुष्यत्व भी खो बैठोगे। जिस प्रकार तुम एक धर्मात्मा कहे जाने वाले मनुष्य की दुःख में सहायता करते हो, उसी प्रकार उस पापी की भी करो, जिसे अल्पज्ञ मनुष्यों ने पापी कह कर मानवीय सहानुभूति के अधिकार से भी वंचित कर दिया है।

कल्पना करो, तुम नदी-तट पर खड़े हो और कोई अन्त्यज, अछूत अथवा अन्य पापी नदी में डूब रहा है। उस समय तुम्हारा धर्म तुम्हें क्या कहता है? यदि वह यह कहता है कि यह तो अन्त्यज है, नीच है, या पापी है, अतः डूबता है तो डूबने दो, अपने को इससे क्या? तो ज़रा हृदय पर हाथ रख कर बताओ कि तुम अपने इस मानवता के संस्कारों से भी शून्य धर्म को क्या कहोगे? और सभ्य संसार तुम्हें एवं तुम्हारे धर्म को क्या समझेगा?

जैन-धर्म मानवता के अधिकारों से किसी भी मानव-प्राणी को वंचित नहीं रखना चाहता। वह इस सम्बन्ध में बहुत बड़ी व्यापक भावना रखता है। जैन-धर्म की सहानुभूति केवल अछूतों तक ही सीमित नहीं है, वह तो पापी के प्रति भी संकट-काल में रक्षा का आश्वासन देती है। जैन-धर्म जीवन-सुधार का पक्षपाती है, जीवन-संहार का नहीं।

मानव-समाज की अज्ञानता-जन्य संहार-लीला बड़ी भयंकर है। यह अज्ञानता का ही तो कुसंस्कार हैं कि कुछ संप्रदाय अछूतों को धर्म-पालन तक का अधिकार नहीं देते। उनका कहना है कि—धर्म, जीवन की पवित्रता का अचूक साधन अवश्य है। परन्तु शूद्रों तथा अछूतों को धर्म करने का अधिकार नहीं है। अतः जब वे धर्म नहीं कर सकते, तो पवित्र कैसे हो सकते हैं ?

उपर्युक्त विचार वाले सज्जनों को ज़रा अपनी मनुष्योचित विचार-शक्ति से काम लेना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि धर्म किसी जाति-विशेष के रिज़र्व नहीं हो चुका है। वह किसी की पैतृक-सम्पत्ति नहीं है, जिस पर अन्य किसी का अधिकार ही न हो। धर्म सब का है और धर्म के सब हैं। धर्म किसी की जात-पाँत की ओर नहीं देखता। वह देखता है, मनुष्य की एकमात्र आन्तरिक सद्भावना एवं भक्ति को, जिसके बल पर वह जीवित रहता है। जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश और जलवायु आदि प्राकृतिक पदार्थों पर प्राणि-मात्र का अधिकार है, उसी प्रकार धर्म एवं भगवान की उपासना पर भी सबका समान अधिकार है। इसके लिए कोई किसी को रोक नहीं सकता। यदि कोई हठात् रोकता भी है तो वह अपनी अज्ञानता का सबसे बड़ा उदाहरण उपस्थित करता है।

हरिजन बन्धुओं को धर्म-स्थानों में जाने से क्यों रोका जाता है ? क्या उनके प्रवेश से धर्म-स्थान अपवित्र हो जायंगे ? क्या उनके वहाँ भजन करने से भगवान् अछूत हो जायँगे ? यदि वास्तव में ऐसी ही बात है, तो हो जाने दीजिए, क्या डर है ? भला,

जो अपनी पवित्रता ही कायम नहीं रख सकता, वह दूसरों को क्या खाक पवित्र बनाएगा ? जो भगवान्, भंगी आदि अछूतों को पवित्र तथा उच्च नहीं बना सकता, प्रत्युत, आप स्वयं ही अछूत हो जाता है, इस प्रकार के शक्ति-शून्य दुर्बल भगवान से संसार क्या लाभ उठाना चाहता है ? हम तो ऐसे भगवान् से सर्वथा दूर हैं। जैन-धर्म की धारणा तो यह है कि भगवान् का स्मरण अपवित्र को पवित्र बनाने वाला है। जो पवित्र को ही पवित्र बनाता है, वह धुले हुए को ही धोता है। धुले हुए को ही बार-बार धोने से आखिर कुछ लाभ ?

यदि दूसरे दृष्टि-बिन्दु से विचार करें तो एक नवीन ही प्रश्न सामने आता है। वह यह कि भगवान् तो स्वयं भंगी हैं। बेचारे भंगी उन्हें क्या भंगी बनायेंगे ? यदि एक जाति-बिरादरी के व्यक्ति प्रेमपूर्वक परस्पर मिलते हैं, तो फिर व्यर्थ ही बीच में रोड़ा अटकाने वाले तुम तीसरे कौन ? आप आश्चर्य में होंगे कि भगवान् भंगी कैसे ? समाधान स्पष्ट है कि भंगी का काम, गंदगी साफ़ करके शुद्धि करना है। सो यह काम स्वयं भगवान् भी करते हैं। हाँ, भंगी बाह्य-शुद्धि करता है, तो भगवान् अन्तःक्षेत्र में मन की शुद्धि करते हैं। आखिर हैं तो उक्त दृष्टि बिन्दु से दोनों एक समान ही। एक भौतिक शुद्धि-क्षेत्र का प्रतिनिधि है, तो दूसरा आध्यात्मिक शुद्धि-क्षेत्र का। दोनों की ही विश्व के लिए आवश्यकता है। अतः दोनों के मिलन में किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है।

शब्द-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों ने धर्म का व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ किया है कि 'दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः।' अर्थात् धर्म वह विश्व-हितंकर वस्तु है, जो अधःपतन की ओर जाते हुए संसारी जीवों को ऊँचा उठाता है, पतित होने से बचाता है। संसार में धर्म ही वह शक्ति रखता है, जो नीचातिनीच कहे जाने वाले अधम पुरुषों को भी एक दिन महापुरुषों के विश्व वन्दनीय महान् पद पर पहुँचा देता है। जिसके पास पर्याप्त बुद्धि है

और विचार के लिये मन है; तथा जो वास्तविक रूप में इनका उपयोग भी करना जानता है, वह इस बात को कदापि नहीं मान सकता कि एक भंगी सदाचार-पूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ भी, जन्म से भंगी होने के कारण, सदा नीच ही रहता है और इसके विपरीत एक ब्राह्मण-देवता, दुराचार की साक्षात् मूर्ति होते हुए भी, ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने के कारण, सदैव संसार का पूज्य ही बना रहता है। यदि धर्म पतित व्यक्तियों को पवित्र नहीं बना सकता, तो फिर वह किस रोग की दवा है ? पवित्र तो स्वयं पवित्र है ही और पतित पवित्र हो नहीं सकते, तो बताइए, फिर व्यर्थ ही बात बात में धर्म की दुहाई किसलिए दी जाती है ? इस प्रकार के अकिंचित्कर धर्म से मानव-समाज का क्या लाभ है ?

मनुष्य-मात्र के अधिकारों की जब चर्चा चलती है, तब कुछ उच्च जातीय लोग अडंगा लगाते हैं कि मनुष्य होते हुए भी सब मनुष्य समान नहीं हैं; अतएव सब के समान अधिकार भी नहीं हैं। इसी विचारधारा के लोगों ने अछूतों पर नाना प्रकार के अ याचार किए हैं। उन्हें क्या सामाजिक और क्या धार्मिक, सभी प्रकार के मानव अधिकारों से वंचित कर दिया है। अछूतों को सार्वजनिक भोजनालयों में भोजन नहीं करने दिया जाता, धर्मशाला आदि स्थानों में ठहरने नहीं दिया जाता, तांगा आदि की सवारी पर सवर्णों के साथ बैठने नहीं दिया जाता और धर्म-स्थानों में भी स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रवेश नहीं करने दिया जाता। कितना भयङ्कर अन्याय है ? जातीय असमानता के इस भयङ्कर पाप की कोई सीमा ही नहीं है !

जब कभी विचार-शील विद्वानों ने जातीय भेद-भाव को मिटाने के लिए प्रयत्न किया है, तब ऊँची जाति के लोगों की ओर से यह कुतर्क उठाया गया है कि 'यदि ये लोग भी हमारी तरह ही रहने-सहने लगे और समान अधिकार प्राप्त

करने लगे तो फिर हम क्या करेंगे ? हमारी विशेषता ही क्या रहेगी ? गुड़ और गोबर बराबर न हो जायँगे ?'

बुद्धिमान् पाठक विचार सकते हैं कि यह कैसी अद्भुत भ्रांति है ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो कार्य तुम करते हो, वह अछूत कहे जाने वाले हरिजन भाई न करें। इस प्रकार तो हरिजनों को न भोजन करना चाहिए और न पानी ही पीना चाहिए। क्योंकि यदि ये हरिजन लोग भोजन-पान करेंगे तो फिर आप उच्च कहे जाने वाले सवर्ण क्या करेंगे ? हरिजनों को साँस भी नहीं लेना चाहिए और जीवित भी नहीं रहना चाहिए। क्योंकि फिर आपके साँस लेने और जीवित रहने की विशेषता ही क्या रहेगी ? धार्मिक आचरण के क्षेत्र में भी यही अड़ंगा रहेगा। क्या हरिजन भाई सदैव ही झूठ बोला करें और चोरी आदि ही किया करें ? क्योंकि तभी तो तुम सत्य और अचौर्य-धर्म का आचरण कर सकोगे ? अन्यथा समानता हो जायगी ? क्यों यह बात स्वीकार है ? कितने विचित्र विचार हैं ? खेद है, जातीयता के इस मिथ्या अहंकार ने भारत को गिराते-गिराते अधःपतन की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है।

अन्तिम निवेदन के रूप में अब केवल यही कहना है कि अस्पृश्यता प्राचीन धर्म-ग्रन्थों और वर्तमान समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों से सर्वथा विरुद्ध है। यह तो कुछ जाति-गर्विष्ठ लोगों का चलाया हुआ संक्रामक रोग है, जिसने आज भारत को मृत्यु-शैय्या पर लिटा दिया है। खेद है कि बहुत से कुलाभिमानी सज्जन कुत्तों और बिल्लियों तक से प्यार करते हुए देखे गए हैं, यहाँ तक कि उनका मुख भी चूम लेते हैं। परन्तु जब हरिजनों का प्रश्न आता है, तब ये ही लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं और धर्म डूबने की दुहाई देने लगते हैं। क्या हरिजन कुत्तों और बिल्लियों तक से भी गये-

गुज़रे हैं ? समझ में नहीं आता कि मनुष्यों को पशुओं से भी नीच समझने का इनके पास कौनसा ईश्वरीय फ़र्मान आया हुआ है, जिसे ये लोग आँख मूँद कर मान रहे हैं।

जो लोग अछूतों से घृणा करते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि वे स्वयं जिस प्रकार मनुष्य हैं, उसी प्रकार हरिजन भी हैं। उच्च जाति के लोगों के मस्तिष्क पर कोई अनोखे स्वर्ण-शृङ्ग नहीं हैं, जो उनकी सर्वोपरि महत्ता को सूचित करते हों। हम सबकी जन्म-भूमि भारत है। अतः यदि हरिजन अस्पृश्य हैं, तो हम सब भी अस्पृश्य रहेंगे। उच्च जाति के लोगों के पास अपनी स्पृश्यता के लिए कोई अलग प्रमाण-पत्र नहीं है।

यदि कहो कि हरिजन गंदे रहते हैं, भला वे किस प्रकार स्पृश्य हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि हरिजनों की गंदगी के मूल कारण आप ही हैं। आप लोगों के निरन्तर के अत्याचारों से ये गरीब अपने व्यक्तित्व को भूल गये हैं। इन्होंने अब इसी गंदगी में ही आनन्द मान लिया है। यदि आप इन्हें इनकी उन्नति के लिए पर्याप्त अवसर दें तो ये अवश्य ही आपके समान स्वच्छ और साफ रहने लगेंगे। यह ध्रुव सत्य है कि शारीरिक अशुद्धि कोई स्थायी वस्तु नहीं है। इसके दूर होने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता। आवश्यकता है शिक्षा की, जिससे ये अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए भी मनुष्योचित श्रेणी में आ सकें।

जैन-धर्म का साधारण-सा अभ्यास करने वाला साधक भी यह जानता है कि 'मनुष्य जाति एक है, उसमें किसी भी प्रकार का जन्म-मूलक उच्च-नीच का भेद-भाव नहीं है। जो मनुष्य जाति-मद में आकर किसी को नीच समझता है, घृणा करता है, वह सबसे भयङ्कर पाप का आचरण करता है।' अतएव जैन-धर्म के मानने वालों से आग्रह-पूर्वक निवेदन है

कि वे प्रचलित अस्पृश्यता को दूर करने के लिए मानव-समाज में व्यापक जागृति पैदा करें और सर्वत्र समभाव का विशाल साम्राज्य स्थापित करें। धर्म का गौरव बिखरी हुई कड़ियों को मिलाने में है, और अधिक बिखेर देने में नहीं।

: २८ :

आत्मा

आत्मा क्या है ? जो सदा अमर रहता है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो नारकी, पशु, मनुष्य और देव-गतियों में नाना-रूप पाकर भी कभी अपने अमर स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होता, वह आत्मा है। जिस प्रकार पुराना कपड़ा छोड़ कर नया पहना जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराना शरीर छोड़कर नया धारण कर लेता है। जन्म-मरण के द्वारा केवल शरीर बदला जाता है, आत्मा का कभी नाश नहीं होता। यह आत्मा न शस्त्र से कटता है, न आग में जलता है, न धूप में सूखता है, न जल में भीगता है, न हवा में उड़ता है। यह सब प्रकार से सनातन और अचल है।

आत्मा ज्ञान-रूप है। हर एक वस्तु को जानना, देखना, मालूम करना, आत्मा का ही धर्म है। जब तक मनुष्य जिन्दा रहता है अर्थात् शरीर में आत्मा रहता है, तब तक जानता है, देखता है, सूँघता है, चखता है, छूता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है और, जब शरीर में आत्मा नहीं रहता है, तब कुछ भी ज्ञान-शक्ति नहीं रहती। अतः जैन-धर्म में आत्मा को ज्ञान-स्वरूप कहा है।

आत्मा अमूर्त है। उसमें न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है। आत्मा पकड़ने जैसी चीज नहीं है। सब पदार्थों में वायु को सूक्ष्म कहा है। परन्तु वायु का तो स्पर्श होता है, आत्मा का तो स्पर्श भी नहीं होता। अतएव वह अमूर्त है। रूप, रस आदि जड़ शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

संसार में आत्मा अनन्त हैं। अनन्त का अर्थ है, जो गिनती से बाहर हो, जो सीमा से बाहर हो, जो नाप-तौल से बाहर हो।

आत्माओं का कभी संख्या की दृष्टि से अन्त नहीं होता, इसलिए अनन्त हैं। यही कारण है कि अनन्त काल से आत्माएँ मोक्ष में जा रही हैं, फिर भी संसार में आत्माओं का कभी अन्त नहीं आया और न कभी भविष्य में आएगा। जो अनन्त हैं, फिर भला उनका अन्त कैसा ? यदि अनन्त का भी कभी अन्त आ जाय, तब तो अनन्त शब्द ही मिथ्या हो जाय।

आत्माओं के दो भेद हैं—'संसारी और सिद्ध'। सिद्धों में भेद का कारण कर्म-मल नहीं रहता है, अतः वहाँ कोई मौलिक भेद नहीं होता। हाँ, संसारी दशा में कर्म का मल लगा रहता है, अतः संसारी जीवों के नरक, तिर्यंच आदि गति और एकेन्द्रिय आदि जाति—इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टि से अनेक भेद हैं।

यहाँ हम त्रस, स्थावर, संज्ञी, असंज्ञी आदि भेदों में न जाकर आत्माओं के और ही तीन भेद बताना चाहते हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (४) परमात्मा। यह तीन भेद, भावों की अपेक्षा से हैं। जैन-धर्म के आध्यात्मिक ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु यहाँ संक्षेप में ही उनका स्वरूप बतलाते हैं :—

१. बहिरात्मा

प्रथम श्रेणी के बहिरात्मा प्राणी हैं। बहिरात्मा का अर्थ है—'बहिर्मुख आत्मा। जो आत्मा संसार के भोग-विलासों में भूले रहते हैं, जिन्हें सत्य और असत्य का कुछ भान नहीं रहता, जो धर्म और अधर्म का विवेक भी नहीं रखते, वे बहिरात्मा हैं। बहिरात्मा, आत्मा और शरीर को पृथक्-पृथक् नहीं समझता। वह शरीर के नाश को आत्मा का नाश और शरीर के जन्म को आत्मा का जन्म मानता है। यह दशा बहुत बुरी है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। अतः इस दशा को त्याग कर अन्तरात्मा बनना चाहिए।

२. अन्तरात्मा

द्वितीय श्रेणी के विकसित आत्मा अन्तरात्मा कहलाते हैं। अन्तरात्मा का अर्थ है—'अन्तर्मुख आत्मा।' जो आत्मा भौतिक सुख के प्रति अरुचि रखते हों, सत्य और असत्य का भेद-भाव समझते हों; धर्म और अधर्म का विवेक रखते हों, वे अन्तरात्मा हैं। अन्तरात्मा, शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझता है। वह शरीर के सुख-दुःख से आकुल-व्याकुल नहीं होता। अहिंसा-सत्य आदि पर विश्वास रखता है और यथाशक्ति आचरण करता है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक, श्राविका और साधु-साध्वी सब अन्तरात्मा हैं। अन्तरात्मा साधक-दशा है! यहाँ आध्यात्मिक-जीवन की साधना प्रारम्भ होती है, और विकास पाती है।

३. परमात्मा

अन्तरात्मा साधना करते-करते जब आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च भूमिका पर पहुँचता है, तब वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा हो जाता है। वीतराग भगवान् श्री महावीर स्वामी आदि तीर्थंकर इसी भूमिका पर थे। परमात्मा का अर्थ है—परम+आत्मा। परम=पूर्ण रूप से उत्कृष्ट आत्मा। परमात्मा के दो भेद हैं—(१) जीवन्मुक्त श्री अरिहन्त भगवान् (२) और विदेह-मुक्त श्री सिद्ध भगवान्। मोक्ष से पहले शरीरधारी परमात्मा जीवन्मुक्त अरिहन्त कहलाते हैं, और शरीर से रहित होकर मोक्ष में पहुँचने पर वे ही सिद्ध भगवान् हो जाते हैं।

बहिरात्मा संसारी-जीवन का प्रतिनिधि है। अन्तरात्मा साधक-जीवन का प्रतिनिधि है। और परमात्मा साध्य-जीवन का प्रतिनिधि है। बहिरात्म-दशा का त्याग कर अन्तरात्मा होना चाहिए और फिर विकास करते-करते परमात्मा की भूमिका पर पहुँच जाना चाहिए। परमात्मा हमारा लक्ष्य है। जैन-धर्म का सिद्धान्त है कि प्रत्येक आत्मा आध्यात्मिक जीवन का विकास करते-करते अन्त में राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा हो सकता है।

: २६ :

भगवान् महावीर और अछूत

आजकल भारत का धार्मिक वायुमंडल बहुत कुछ क्षुब्ध हो रहा है। जिधर देखो उधर ही धार्मिक-क्रान्ति की लहर दौड़ रही है। आज का युग धार्मिक-संघर्ष का युग माना जाता है। यही कारण है कि वर्तमान युग में धार्मिक विचारों को लेकर खासी अच्छी मुठ-भेड़ होती रहती है।

आजकल जो सब से बड़ी मुठ-भेड़ हो रही है, वह छूत और अछूत की व्यवस्था के सम्बन्ध में है। इस विषय में एक पक्ष कुछ व्यवस्था देता है, तो दूसरा पक्ष कुछ और ही। इस समय प्राय: समस्त भारत, स्थिति-पालक और सुधारक नामक दो परस्पर विरुद्ध पक्षों में बँटा हुआ है। दोनों पक्षों की ओर से, अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिए आकाश-पाताल एक किए जा रहे हैं। जहाँ-तहाँ शास्त्रार्थ हो रहे हैं, और अपने-अपने जयनाद की गगन-भेदी ध्वनियाँ गूंज रही हैं।

परन्तु वास्तविक निर्णय क्या है, यह अभी अध-बीच में ही लटक रहा है। अतएव अंतिम निर्णय के लिए प्रत्येक धर्म वाले अपने-अपने धर्म-प्रवर्तकों को न्यायाधीश के रूप में आगे ला रहे हैं और उनके इस सम्बन्ध में दिए हुए निर्णय प्रकट किए जा रहे है। इससे बहुत कुछ सत्य पर प्रकाश पड़ा है, फिर भी वास्तविक निर्णय तो अभी अन्धकार में ही है। उसको प्रकट करना, प्रधान न्यायाधीश के हाथ में है। वह प्रधान न्याया-धीश और कोई नहीं, भारतवर्ष के अन्तिम ज्ञान सूर्य तीर्थपति भगवान् महावीर स्वामी हैं। इन्होंने अपने समय में संसार पर जो उपकार किए हैं, उन्हें आज के सभी जैन और अजैन विद्वान् एकस्वर से स्वीकार कर रहे हैं। अस्तु विश्व-हितैषिता

के नाते भगवान् महावीर को विश्व-हितैषी निर्णय के लिए प्रधान न्यायाधीश का पद स्वयं प्राप्त हो जाता है। अब संक्षेप में यह देखना है कि इस प्रचलित छूत-अछूत सम्बन्धी झगड़े के सम्बन्ध में, भगवान् महावीर का अपना निजी वर्तन और निर्णय क्या है ?

आज से क़रीब ढ़ाई हज़ार वर्ष पहले छूत-अछूत के संबंध में भारत की अब से भी कहीं अधिक भयंकर स्थिति थी। शूद्रों की छाया तक से घृणा की जाती थी, और उनका मुंह देखना भी बड़ा भारी पाप समझा जाता था। उन्हें सार्वजनिक धर्म-स्थानों एवं सभाओं में जाने का अधिकार नहीं था। और तो क्या, जिन रास्तों पर पशु चल सकते हैं, उन पर भी वे नहीं चल सकते थे। वेद आदि धर्म-शास्त्र पढ़ने तो दूर रहे, विचारे सुन भी नहीं सकते थे। यदि किसी अभागे ने राह चलते हुए कहीं भूल से सुन लिया, तो उसी समय धर्म के नाम पर दुहाई मच जाती थी, और धर्म के ठेकेदारों द्वारा उसके कानों में उकलता हुआ सीसा गलवाकर भरवा दिया जाता था। हा ! कितना घोर अत्याचार ! राक्षसता की हद हो गई ! बात यह थी कि जातिवाद का बोलवाला था, धर्म के नाम पर अधर्म का विष-वृक्ष सींचा जा रहा था।

उसी समय क्षत्रियकुण्ड नगर में राजा सिद्धार्थ के यहाँ भगवान् महावीर का अवतार हुआ। इन्होंने अपनी तीस वर्ष की भरपूर जवानी में, राज्य-वैभव को ठुकरा कर मुनि-पद धारण कर लिया और कैवल्य प्राप्त होते ही छुआ-छूत के विरुद्ध बग़ावत का झंडा खड़ा कर दिया। अन्त्यज और अस्पृश्य कहलाने वाले व्यक्तियों को भी उन्होंने अपने संघ में वही स्थान दिया, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च कुलों के लोगों को था।

भगवान् महावीर के इस युगान्तरकारी विधान से ब्राह्मणों एवं दूसरे उच्च वर्णों के लोगों में बड़ी भारी खलबली मची।

फलतः उन्होंने इसका यथाशक्य घोर विरोध भी किया। परन्तु भगवान् महावीर आदि से अन्त तक अपने तर्कसंगत मानवीय सिद्धान्त पर अटल रहे। उन्होंने विरोध की तनिक भी परवाह न की। अन्ततोगत्वा प्रभु ने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक समभाव की वह विजय-दुंदुभी बजा कि अस्पृश्यता के पैर उखड़ गए। विरोधी लोग देखते ही रह गए, उनका विरोध कुछ कारगर न हो सका।

भगवान् महावीर की व्याख्यान-सभा में, जिसे समवसरण कहते हैं, आने वाले श्रोताओं के लिए कोई भी भेद-भाव नहीं था। उनके उपदेश में जिस प्रकार ब्राह्मण आदि उच्च कुलों के लोग आते-जाते थे, ठीक उसी प्रकार चांडाल आदि भी। बैठने के लिए कुछ पृथक्-पृथक् प्रबन्ध भी नहीं होता था। सब-के-सब लोग परस्पर भाई-भाई की तरह मिल-जुल कर बैठ जाया करते थे। किसी को किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। व्याख्यान-सभा का सबसे पहला कठोर, साथ ही मृदुल नियम यह था कि कोई किसी को अलग बैठने के लिए तथा बैठे हुए को उठ जाने के लिए नहीं कह सकता था। पूर्ण साम्य-वाद का साम्राज्य था, जिसकी जहाँ इच्छा हो, वहाँ बैठे। आज के समान कोई झिड़कने तथा दुत्कारने वाला नहीं था। क्या मज़ाल, जो कोई उच्च जाति के अभिमान में आकर कुछ आना-कानी कर सके? यह सब क्यों था? भगवान् महावीर वस्तुतः दीन-बन्धु थे, उन्हें दीनों से प्रेम था।

भगवान् महावीर के इन उदार विचारों तथा व्याख्यान-सभा सम्बन्धी नियमों के सम्बन्ध में दो मुख्य घटनाएँ ऐसी हैं, जो इतिहास के पृष्ठों पर सूर्य की तरह आज भी चमक रही हैं। नियम सम्बन्धी एक घटना भारत के प्रसिद्ध नगर राजगृह में घटित हुई है। राज-गृह नगर के गुणशीलक उद्यान में भगवान् महावीर प्रभु धर्मोपदेश दे रहे थे। समवसरण में जनता की

इतनी अधिक भीड़ थी कि समाती न थी। स्वयं मगधाधिपति महाराजा श्रेणिक सपरिवार भगवान् के ठीक सामने बैठे हुए उपदेश सुन रहे थे। इतने ही में एक देवता राजा श्रेणिक की परीक्षा के निमित्त चांडाल का रूप बनाकर समवसरण में आया और राजा श्रेणिक के आगे जाकर बैठ गया। वहाँ पर भी निचला न बैठा। पुनः-पुनः भगवान् के चरण कमलों को हाथ लगाता रहा और अपना मस्तक रगड़ता रहा। इस व्यवहार से राजा श्रेणिक अन्दर-ही-अन्दर कुढ़ता रहा, किन्तु नियम-सम्बन्धी विवशता के कारण प्रकट रूप में कुछ भी नहीं बोल सका। यह कथा आगे बहुत वितृत है। किन्तु, अपना प्रयोजन केवल यहीं तक रह जाता है। इस घटना से पता लगाया जा सकता है कि उपर्युक्त सभा-सम्बन्धी नियम का किस कठोरता के साथ पालन होता था ?

दूसरी दलितों के प्रति उदारता वाली घटना पोलासपुर की है। वहाँ के सकडाल नामक कुम्हार की प्रार्थना पर भगवान् महावीर स्वयं उसकी निजी कुम्भकार-शाला में जाकर ठहरे थे। वहीं पर उसको मिट्टी के घड़ों का प्रत्यक्ष दृष्टान्त देकर धर्मोपदेश दिया और अपना शिष्य बनाया। भविष्य में यही कुम्हार भगवान् के श्रावकों में प्रमुख श्रावक हुआ एवं संघ में बहुत अधिक आदर की दृष्टि से देखा गया। उपासकदशांग सूत्र में इसके वर्णन का एक स्वतन्त्र अध्याय है, अतः विशेष जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं। उपलब्ध आगम-साहित्य में, जहाँ तक पता है, शायद यही एक घटना है, जो भगवान् इस प्रकार गृहस्थ के कार्य-भवन में ठहरे हैं। इससे भगवान् महावीर का दलितों के प्रति प्रेम का पूर्ण परिचय मिल जाता है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों की अपेक्षा, भगवान ने एक कुम्हार को कितना अधिक महत्व दिया है ?

विश्व-वंद्य महापुरुष का, एक साधारण कुम्हार के घर पर पधारना, कोई मामूली घटना न समझिएगा।

भगवान् महावीर के वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी विचार अतीव उग्र एवं क्रान्तिकारी थे। वे जन्मतः किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि नहीं मानते थे। जहाँ कहीं काम पड़ा है, उन्होंने कर्त्तव्य पर ही ज़ोर दिया है। इसके विषय में उनका मुख्य धर्म-सूत्र यह था—

"कम्मुणा बंभणो होई,
कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई,
सुद्दो हवइ कम्मुणा।"

—उत्तराध्ययन २५, ३३

अर्थात्—जन्म की अपेक्षा से सब के सब मनुष्य हैं। कोई भी व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र होकर नहीं आता। वर्ण-व्यवस्था तो मनुष्य के अपने स्वीकृत कर्त्तव्यों से होती है। अतः जो जैसा करता है, वह वैसा ही हो जाता है अर्थात् कर्तव्य के बल से ब्राह्मण शूद्र हो सकता है, और शूद्र ब्राह्मण हो सकता है।

भगवान् महावीर के संघ में एक मुनि थे। उनका नाम था हरिकेशी। वे जन्मतः चांडाल-कुल में पैदा हुए थे। उनका इतना त्यागी एवं तपस्वी जीवन था कि बड़े-बडे सार्वभौम सम्राट् तक भी उन्हें अपना गुरू मानते थे, और सभक्ति-भाव उनके चरण-कमल छुआ करते थे। और तो क्या; वहुत से देवता भी इनके भक्त हो गए थे। एक देवता तो यहाँ तक भक्त हुआ कि हमेशा तपस्वी जी की सेवा में रहने लगा। इन्हीं घोर तपस्वी, हरिजन मुनि हरिकेशी की महत्ता के सम्बन्ध में, पावापुरी को महती सभा में भगवान् महावीर स्वयं फर्माते हैं—

"सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइ-विसेसु कोई।
सोवाग-पुत्तं हरिएस साहुं,
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥"

—उत्तराध्ययन १२, ३७

अर्थात्—प्रत्यक्ष में जो कुछ महत्त्व दिखाई देता है, वह सब गुणों का ही है, जाति का नहीं। जो लोग जाति को महत्त्व देते हैं, वे वास्तव में बहुत भयंकर भूल करते हैं। क्योंकि जाति की महत्ता किसी भाँति भी सिद्ध नहीं होती। चांडाल-कुल में पैदा हुआ हरिकेशी मुनि अपने गुणों के बल से आज किस महान पद पर पहुँचा है। इसकी महत्ता के सामने विचारे जन्मतः ब्राह्मण क्या महत्ता रखते हैं? महानुभाव हरिकेशी में चांडालपन का क्या शेष है, वह तो ब्राह्मणों का भी ब्राह्मण बन गया है।

भगवान् महावीर जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने अपने धर्म-प्रचार-काल में जातिवाद का अत्यन्त कठोर खंडन किया था, और एक तरह से उस समय जातिवाद का अस्तित्व ही नष्ट सा हो गया था। जातिवाद के खंडन में युक्तियाँ बड़ी ही सचोट एवं अकाट्य हैं। जहाँ कहीं जातिवाद का प्रसंग आया है, भगवान् ने केवल पाँच जातियाँ ही स्वीकार की हैं, जो कि जन्म से मृत्यु-पर्यन्त रहती हैं, बीच में भंग नहीं होतीं। वे पाँच जातियाँ हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि लौकिक जातियों का जाति-रूप से आगम-साहित्य में कहीं पर भी विधानात्मक उल्लेख नहीं मिलता। यदि श्रमण भगवान् महावीर प्रचलित जातिवाद को सचमुच मानते होते, तो वे वैदिक-धर्म की भाँति कदापि अन्त्यज लोगों को अपने संघ में आदर-योग्य स्थान नहीं देते। भगवान् ने अन्त्यज तो

क्या, अनार्यों तथा म्लेच्छों तक को भी दीक्षा लेने का अधिकार दिया है, और अन्त में कैवल्य प्राप्त कर मोक्ष पाने का भी बड़े जोरदार शब्दों में समर्थन किया है। धर्म-शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने के विषय में भी, सबके लिए उन्मुक्त द्वार रखने की आज्ञा दी है। इस विषय में किसी के प्रति किसी भी जाति-सम्बन्धी प्रतिबंधकता का होना, उन्हें कतई पसन्द नहीं था।

जातिवाद का खंडन करते हुए भगवान् ने स्पष्टशब्दों में जातिवाद को घृणित बताया है, और जातिमद से अकड़ने वाले लोगों को खासी लताड़ बताई है। आठ मदों में प्रथम जाति-मद के प्रति भगवान् का यह भाव है कि जातिमद मनुष्य के घोर अधः पतन का कारण है। जो मनुष्य जातिमद में आकर ऐंठने लग जाते हैं, वे इस लोक में भी अपना उच्च व्यक्तित्व खो बैठते हैं और परलोक में भो नरक तिर्यंच आदि जघन्य गतियों में घोर यातनाएँ भोगते हैं। जातिवाद का बहाना लेकर किसी को घृणा की दृष्टि से देखना या अपमानित करना, बड़ा भारी भीषण पाप है। वास्तव में जिन्हें अस्पृश्य समझना चाहिए, वे तो पाप हैं, दुराचार हैं। अतः घृणा के योग्य भी वे ही हैं, न कि मनुष्य ! अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह स्वयं अपने पापों को ही अस्पृश्य समझे और प्रचलित अस्पृश्यता को दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न करे। भला, जो स्वयं मल-लिप्त हैं, वे दूसरे मल-लिप्तों से क्यों कर ऊँचे हो सकते हैं ?

कुछ लोग उच्च-गोत्र तथा नीच-गोत्र का हवाला देकर भगवान् महावीर को जन्मतः उच्च नीचता का समर्थक बतलाने की चेष्टा करते हैं, वे यथार्थ में भूलते हैं। उच्च-नीच गोत्रों का वह भाव नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझे हुए हैं। गोत्र-व्यवस्था का यह कोई नियम नहीं है कि वह जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त रहे ही, बीच में परिवर्तित न हो। गोत्र-व्यवस्था का सम्बन्ध भी तो अन्ततोगत्वा सद्गुणों से ही है। इसके

लिए भगवान् महावीर के कर्म-सिद्धान्त का तलस्पर्शी परिशीलन करना चाहिए। विना इसके यथार्थता का भान होना कठिन ही नहीं, अति कठिन है। भगवान् ने आत्मिक विकास की तरतमता की दृष्टि से साधक-जीवन के लिए चौदह श्रेणियाँ बतलाई हैं, जिन्हें जैनागम की परिभाषा में गुणस्थान कहते हैं। प्रत्येक जीव, जो मोक्ष प्राप्त करता है, इन चौदह गुण श्रेणियों को उत्तीर्ण करता है। इन श्रेणियों के वर्णन में भगवान् ने कहा है कि मनुष्य को नीच-गोत्र का उदय प्रथम के[1] चार गुण स्थानों तक ही रहता है, आगे के गुण स्थानों में पहुँचते ही नीच गोत्र नष्ट हो जाता है और उसके स्थान में उच्च-गोत्र का उदय हो जाता है। पाँचवाँ गुण स्थान सदाचारी गृहस्थ का और छठवाँ साधु का होता है, अतः स्पष्ट है कि चारित्र शुद्ध होते ही, मनुष्य नीच-गोत्र से उच्च-गोत्र वाला बन जाता है। यदि गोत्र का सम्बन्ध नियत रूप से आमरण होता, तो भगवान यह गुण-सम्बन्धी व्यवस्था कदापि नहीं देते। अस्तु, गोत्र शब्द के वास्तविक अर्थ की अनभिज्ञता के कारण जन्मतः मृत्यु-पर्यन्त उच्च-नीचता की धांधली मचाने वाले सज्जन, अपनी भूल को दूर करें और भगवान् महावीर के उदार विचारों को अनुदार बनाने का दुःसाहस न करें।

अन्त में मुझे भगवान् महावीर के अनन्य उपासक जैन-बन्धुओं से यह कहना है कि अगर आप भगवान् महावीर के सच्चे भक्त हैं और उन्हें अपना धर्म-पिता मानते हैं तो उनके कदमों पर चलें। संसार में सच्चा सपूत वही कहलाता है, जो अपने पिता के कार्यों का अनुसरण करता है। यह छूआ-छूत का झगड़ा तुम्हारा अपना जैन-धर्म का नहीं है। यह तो तुम्हारे पड़ौसी वैदिक धर्म का है, जो तुम्हारी दुर्बलता के कारण जैन-धर्म के अन्दर भी

१—पंचम गणस्थान में नीच-गोत्र के उदय का उल्लेख पशु-जाति के लिए किया गया है, मनुष्य के लिए नहीं।

घुस बैठा है। अफसोस ! जिस नीचता को तुम एक दिन अपने पड़ौसी के यहाँ पर भी नहीं रहने देना चाहते थे और जिसके नाश के लिए समय-समय पर अपना बलिदान तक देते आए थे, वही नीचता आज तुम लोगों में पूर्ण रूप से स्थान पाये हुए है। यह कितनी अधिक लज्जा की बात है ? समझ लो, छूआ-छूत के कारण तुमने भगवान् महावीर के और अपने महत्त्व को कुछ घटाया ही है, बढ़ाया नहीं। भगवान् महावीर का जन्म दुखियां और दलितों के उद्धार के लिए ही हुआ था। उनके उपदेशों में इसी सेवा-धर्म की ध्वनि गूँज रही है। आज के अछूत सब से अधिक दुःखी हैं और नीच माने जाते हैं, अतः इनके लिए जो कुछ तुम कर सकते हो, करो और समस्त पृथ्वी पर से छुआ-छूत का अस्तित्व मिटा दो।

: ३० :

जैन-संस्कृति में सेवा-भाव

जैन-संस्कृति की आधार-शिला प्रधानतया निवृत्ति है, अतः उसमें त्याग, वैराग्य, तप और तितिक्षा आदि पर जितना अधिक बल दिया गया है, उतना और किसी नियम-विशेष या सिद्धांत-विशेष पर नहीं। परन्तु जैन-धर्म की निवृत्ति, साधक को जन-सेवा की ओर अधिक-से-अधिक आकर्षित करने के लिए है। जैन-धर्म का आदर्श ही यह है कि प्रत्येक प्राणी एक दूसरे की सेवा करे, सहायता करे और जैसी भी अपनी योग्यता तथा शक्ति हो, उसी के अनुसार दूसरों के काम आए। जैन-धर्म में जीवात्मा का लक्षण[१] ही सामाजिक माना गया है, वैयक्तिक नहीं। प्रत्येक सांसारिक प्राणी अपने सीमित व्यक्ति-रूप में अपूर्ण है; उसकी पूर्णता आस-पास के समाज में और संघ में निहित है। यही कारण है कि जैन-संस्कृति का जितना अधिक झुकाव आध्यात्मिक-साधना के प्रति है, उतना ही ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति भी है। ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों को जैन-साहित्य में धर्म[२] का रूप दिया गया है। भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनों में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने आध्यात्मिक क्रिया-काण्ड-प्रधान जैन-धर्म की साधना का स्थान ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म के बाद ही रखा है, पहले नहीं। एक सभ्य नागरिक एवं राष्ट्र-भक्त ही सच्चा जैन हो सकता है, दूसरा नहीं। उक्त विवेचन के विद्यमान रहते यह कैसे कहा जा सकता है कि—'जैन-धर्म एकान्त

१—परस्परोपग्रहो जीवानाम्—तत्वार्थाधिगमसूत्र ५, २१

२—स्थानांग सूत्र, दशमस्थान।

निवृत्ति-प्रधान है अथवा उसका एकमात्र उद्देश्य परलोक ही है, इह लोक नहीं।' जैन-धर्म उधार धर्म नहीं है, अपितु नकद धर्म है। वह इस लोक और परलोक दोनों को ही शानदार बनाने की सत्प्रेरणा प्रदान करता है।

जैन गृहस्थ जब प्रातःकाल उठता है, तो वह तीन चीजों[3] का चिन्तन करता है, उनमें सबसे पहला यही संकल्प है कि 'मैं अपने धन का जन-समाज की सेवा के लिए कब त्याग करूँगा? वह दिन धन्य होगा, जब मेरे संग्रह का उपयोग जन-समाज के लिए होगा, दीन-दुखियों के लिए होगा। भगवान महावीर का यह आघोष हमारी निद्रा भंग करने के लिए पर्याप्त है कि—**'असंविभागी न हु तस्स मुक्खो[4]।'** 'मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने संग्रह के उपभोग का अधिकारी अपने आपको ही न समझे, प्रत्युत, अपने आस-पास के साथियों को भी अपने बराबर का अधिकारी माने। जो मनुष्य अपने साधनों का स्वयं ही उपभोग करता है, उसमें से दूसरों की सेवा के लिए कुछ भी अर्पण नहीं करना चाहता, वह अपने बन्धनों को तोड़ कर कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।'

जैन-धर्म में माने गये मूल आठ कर्मों में मोहनीय कर्म का स्थान बड़ा ही भयंकर है। आत्मा का जितना अधिक पतन मोहनीय कर्म के द्वारा होता है, उतना और किसी कर्म से नहीं। मोहनीय कर्म के सबसे अन्तिम उग्र रूप को महामोहनीय कहते हैं। उसके तीस भेदों में से पच्चीसवाँ भेद[5] यह है कि—'यदि आपका साथी बीमार है या किसी घोर संकट में पड़ा हुआ है, और आप उसकी सहायता या सेवा करने में समर्थ हैं। फिर भी यदि आप सेवा

३—स्थानांग सूत्र, ३, ४, २१।

४—दशवैकालिक सूत्र, ६, २, २३।

५—दशाश्रुत स्कन्ध-नवम दशा।

न करें और यह विचार करें कि इसने कभी मेरा काम तो किया नहीं, मैं ही इसका काम क्यों करूँ ? कष्ट पाता है तो पाए अपनी बला से, मुझे क्या ?' भगवान् महावीर ने अपने चम्पापुर के धर्म-प्रवचन में स्पष्ट ही इस सम्बन्ध में कहा है कि —'जो मनुष्य इस प्रकार अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन होता है, वह धर्म से सर्वथा पतित होता है। उक्त पाप के कारण वह ७० कोटि-कोटि सागर तक चिरकाल जन्म-मरण के चक्र में उलझा रहेगा, सत्य के प्रति अभिमुख न हो सकेगा।'

गृहस्थ ही नहीं, साधु वर्ग को भी सेवा-धर्म का बड़ी कठोरता से पालन करना होता है। भगवान महावीर ने कहा है कि—'यदि कोई साधु अपने बीमार या संकटापन्न साथी को छोड़ कर तपश्चरण करने लग जाता है, शास्त्र-चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तो वह अपराधी है; संघ में रहने योग्य नहीं है। उसे एक सौ बीस उपवासों का प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा, अन्यथा उसकी शुद्धि नहीं हो सकती।' इतना ही नहीं, एक गाँव में कोई साधु बीमार पड़ा हो और दूसरा साधु जानता हुआ भी गाँव से बाहर ही बाहर एक गाँव से दूसरे गाँव में चला जाए, रोगी की सेवा के लिए गाँव में न आए, तो वह भी महान् पापी है,[६] उग्र दण्ड का अधिकारी है।' भगवान महावीर का कहना है कि 'सेवा स्वयं एक बड़ा भारी तप है।[७] अतः जब भी कभी सेवा करने का पवित्र अवसर मिले, तो उसे नहीं छोड़ना चाहिए। सच्चा जैन वह है, जो सेवा करने के लिये सदा आर्तों की, दीन-दुखिया की, पतितों एवं दलितों की खोज में रहता है।[८]

स्थानांग-सूत्र में भगवान महावीर की आठ महाशिक्षाएँ

६—निशीथ सूत्र उद्दे० ४।

७—उत्तराध्ययन, तपोमार्ग अध्ययन।

८—औपपातिक सूत्र, पीठिका।

बड़ी ही प्रसिद्ध हैं, उनमें पाँचवीं शिक्षा यह है कि—'**असंगिहीय परिजणस्स सगिण्हयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ**[९] । जो अनाश्रित है, निराधार है, कहीं भी जीवन-यापन के लिए उचित स्थान नहीं पा रहा है, उसे तुम आश्रय दो, सहारा दो, उसकी जीवन-यात्रा के लिए यथोचित प्रबन्ध करो। जैन-गृहस्थ का द्वार प्रत्येक असहाय के लिए खुला हुआ रहता है।[१०] वहाँ किसी जाति, कुल, देश या धर्म के भेद के बिना मानव-मात्र के लिए समान आदर भाव है, आश्रय-स्थान है ।

एक बात और भी बड़े महत्व की है। इस बात ने तो सेवा का स्थान बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जैन-धर्म में सबसे बड़ा और ऊँचा पद तीर्थंकर का माना गया है। तीर्थंकर होने का अर्थ यह है कि वह साधक-समाज का पूजनीय महापुरुष देवाधिदेव बन जाता है। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर दोनों तीर्थंकर हैं। भगवान महावीर ने अपने जीवन के अन्तिम प्रवचन में सेवा का महत्व बताते हुए कहा है कि—'**वेयावच्चेणं तित्थयर-नामगोत्तं कम्मं निबन्धइ**[११]। अर्थात् वैयावृत्य करने से, सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। साधारण जन-समाज में सेवा का आकर्षण पैदा करने के लिए भगवान महावीर का यह उदात्त प्रवचन कितना महनीय है ?

आचार्य कमलसंयम ने भगवान् महावीर और गौतम का एक बहुत सुन्दर संवाद हमारे सामने प्रस्तुत किया है। संवाद में भगवान् महावीर ने दुःखितों की सेवा को अपनी सेवा की अपेक्षा भी अधिक महत्व दिया है। संवाद का विस्तृत एवं स्पष्ट रूपक इस प्रकार है :—

९—स्थानांग सूत्र ८, ६१

१०—भगवती सूत्र श० २, उ० ४।

११—उत्तराध्ययन सूत्र २९, ४३।

श्री इन्द्रभूति गौतम ने—जो भगवान् महावीर के सब से बड़े गणधर थे—भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन् ! एक भक्त दिन-रात आपकी सेवा करता है, आपकी पूजा-अर्चना करता है, फलतः उसे दूसरे दुःखियों की सेवा के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। दूसरा सज्जन दीन-दुःखियों की सेवा करता है, सहायता करता है, जन-सेवा में स्वयं को घुला-मिला देता है, जन-जीवन पर दया का वर्षण करता है। फलतः उसे आपकी सेवा के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। भन्ते! दोनों में से आप की ओर से धन्यवाद का पात्र कौन है और दोनों में श्रेष्ठ कौन है ?"

भगवान् महावीर ने बड़े रहस्य-भरे स्वर में उत्तर दिया—"गौतम ! जो दीन-दुखियों की सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है, वही मेरे धन्यवाद का पात्र है और वही मेरा सच्चा पुजारी है।[१२] गौतम विचार में पड़ गए कि यह क्या ? भगवान की सेवा के सामने अपने ही दुष्कर्मों से दुःखित पापात्माओं की सेवा का क्या महत्व ? धन्यवाद तो भगवान के सेवक को मिलना चाहिए। गौतम ने जिज्ञासा-भरे स्वर से पूछा—"भन्ते ! बात कुछ गले नहीं उतरी। दुःखितों की सेवा की अपेक्षा तो आपकी सेवा का अधिक महत्व होना चाहिए ? कहाँ तीन लोक के नाथ पवित्रात्मा आप और कहाँ संसार के वे पामर प्राणी, जो अपने ही कृत-कर्मों का फल भोग रहे हैं ?"

भगवान ने उत्तर दिया "गौतम ! मेरी सेवा, मेरी आज्ञा के पालन करने में ही तो है। इसके अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत सेवा के लिए तो मेरे पास कोई स्थान ही नहीं है। मेरी सब से बड़ी आज्ञा यही है कि दुखित जन-समाज की सेवा की जाय, उसे सुख-शान्ति पहुँचाई जाय। प्राणी-मात्र पर

१२—उत्तराध्ययन, सर्वार्थ-सिद्धि, परीषह अध्ययन।

दया-भाव रखा जाय । अतः दुखियों की सेवा करने वाला मेरी आज्ञा का पालक है । गौतम ! इसलिए मैं कहता हूँ कि दुखियों की सेवा करने वाला ही धन्य है, श्रेष्ठ है, मेरी निजी सेवा करने वाला नहीं । मेरा निजी सेवक सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत मोह में अधिक उलझा हुआ है ।"

यह भव्य आदर्श है नर-सेवा में नारायण-सेवा का, जन-सेवा में भगवान की सेवा का । जैन-संस्कृति के अन्तिम प्रकाश-मान सूर्य भगवान महावीर हैं, उनका यह प्रवचन सेवा के महत्व के लिए सब से बड़ा ज्वलन्त प्रमाण है ।

भगवान महावीर दीक्षित होना चाहते हैं, किन्तु अपनी सम्पत्ति का गरीब प्रजा के हित के लिए दान करते हैं, और एक वर्ष तक मुनि-दीक्षा लेने के विचार को लम्बा कर देते हैं । एक वर्ष में अर्बों की सम्पत्ति जन-सेवा के लिए अर्पित करना अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं । और मानव-जाति की आध्यात्मिक उन्नति करने से पहले उसकी भौतिक उन्नति करने में संलग्न रहते हैं[१३] । दीक्षा लेने के पश्चात् भी उनके हृदय में दया का असीम पारावार तरंगित रहता है, फल-स्वरूप वे एक गरीब ब्राह्मण के दुःख से दयार्द्र हो उठते हैं, और उसे अपना एक-मात्र प्रावरण-वस्त्र भी दे डालते हैं ।[१४]

जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त भी सेवा के क्षेत्र में पीछे नहीं रहे हैं । उनके प्रजा-हित के कार्य सर्वतः सुप्रसिद्ध हैं । सम्राट् सम्प्रति की सेवा भी कुछ कम नहीं है । जैन-इतिहास का साधारण-से-साधारण विद्यार्थी भी जान सकता है कि सम्राट् के हृदय में जन-सेवा की भावना किस प्रकार कूट-कूट कर भरी हुई थी, और किस प्रकार उन्होंने उसे कार्य-रूप में

१३—आचारांग, महावीर-जीवन ।

१४—आचार्य हेमचन्द्र-कृत महावीर-चरित्र ।

परिणत कर जैन-संस्कृति के गौरव को अक्षुण्ण रखा था। महाराजा कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल और गुर्जर नरेश कुमारपाल भी सेवा के क्षेत्र में जैन-संस्कृति की मर्यादा को बराबर सुरक्षित रखते हैं। मध्यकाल में जगडूशाह, पेथड़ और भामाशाह जैसे धन-कुबेर भी, जन-समाज के कल्याण के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे डालते हैं, और स्वयं बरसने के बाद रिक्त बादल की-सी स्थिति में हो जाते हैं।

जैन-समाज ने जन-समाज की क्या सेवा की है, इसके लिए सुदूर इतिहास को अलग रहने दीजिए, केवल गुजरात, मारवाड़, मेवाड़ या कर्नाटक आदि प्रान्तों का एक बार भ्रमण कर जाइए, इधर-उधर खंडहरों के रूप में पड़े हुए ईंट-पत्थरों पर नज़र डालिए, पहाड़ों की चट्टानों पर के शिलालेख पढ़िए, जहाँ-तहाँ देहात में फैले हुए जन-प्रवाद सुनिए, आपको मालूम हो जायगा कि जैन-संस्कृति क्या है? उसके साथ जन-सेवा का कितना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, संस्कृति व्यक्ति की नहीं होती, समाज की होती है, और समाज की संस्कृति का यह अर्थ है कि समाज अधिक-से-अधिक सेवा की भावना से ओत-प्रोत हो, उसमें द्वेष नहीं, प्रेम हो, द्वैत नहीं, अद्वैत हो, एक रंग-ढंग हो, एक रहन-सहन हो, एक परिवार हो। संस्कृति का यह विशाल आदर्श जैन-संस्कृति में पूर्णतया घटित हो रहा है, इसके लिए जैन-धर्म का गौरव-पूर्ण उज्ज्वल अतीत पूर्ण रूपेण साक्षी है। मैं आशा करता हूँ, आज का पिछड़ा हुआ जैन-समाज भी अपने महान् अतीत के गौरव की रक्षा करेगा, और भारत की वर्तमान विकट परिस्थिति में बिना किसी जाति, धर्म, कुल या देश के भेद-भाव के दरिद्र-नारायण की सेवा में आगेवान बनेगा, और जन-सेवा को ही भगवान की सच्ची उपासना समझेगा।

: ३१ :

आदर्श स्वावलंबन

(१)

'स्वावलम्बन'—कितना मधुर शब्द है ! सुनते ही हृदय आनन्दातिरेक से परिप्लुत हो जाता है। 'स्वावलम्बन'—उस पूर्ण स्वतन्त्रता का द्वार है, जिसके लिए प्राणिमात्र सचेष्ट रहता है, किन्तु स्वावलम्बन के अभाव से वह नहीं मिल पाती। स्वावलम्बन के बिना कोई भी, कभी भी, परतंत्रता की दुःखद बेड़ियों से छुटकारा नहीं पा सकता। किसी भी देश, जाति, धर्म या व्यक्ति का इतिहास लो, उसकी उन्नति और अवनति के मूल में इसी स्वावलम्बन का अस्तित्व एवं नास्तित्व रहा हुआ मिलेगा। जब मनुष्य की हृदय-भूमि में स्वावलम्बन का बीज अंकुरित हो उठता है, तब संसार की कोई भी शक्ति उसे पश्चात्पद नहीं कर सकती। वह एक-न-एक दिन अंत में अपने ध्येय पर पहुँच कर ही रहता है। विपत्तियों के बार-बार प्रलयकालीन झंझावातों के कारण, जब मनुष्य का हृदय-मेरु विचलित होने लगता है, तब स्वावलम्बन ही उसे फिर पहिले से भी कहीं अधिक दृढ एवं स्थिर कर देता है। बस, हृदय-मेरु की स्थिरता-अस्थिरता पर ही, मनुष्य का अपना जीवन-मरण रहा करता है। अतएव एक कवि की भाषा में यों भी कहा जा सकता है कि—"**स्वावलम्बन जीवन है, तो परावलम्बन मृत्यु।**"

मनुष्य यदि चाहे तो वह देव बन सकता है, यदि कुछ और आगे चाहे, तो महादेव बन सकता है। परन्तु कब ? जब स्वावलम्बन का सच्चा पुजारी हो जाय। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे सब के सब इस स्वावलम्बन के द्वारा ही

महापुरुष बन सके हैं। यह कोई अत्युक्ति नहीं है। यह तो वह ध्रुव सत्य है, जिसमें क्यों और क्या के सवाल को ज़रा भी गुञ्जाइश नहीं हो सकती। आज केवल इसी की परिपुष्टि के लिए, भारत की काया-पलट करने वाले एक महामान्य महापुरुष की जीवन-घटना आपके समक्ष रखी जाती है, जो महाकवि केशराज के शब्दों में, दूसरों की ताक़त पर अकड़ने वाले वीरों के प्रति कह रही है—

'आप बले बलवंत कहावे, पर-बल नित्य अधूरा रे'

(२)

सम्भवतः पोह-माह का महीना होगा। सरदी ख़ूब कड़ाके की पड़ रही थी। हवा तेज और ठंडी चल रही थी। मनुष्य हर वक्त कपड़ों में लिपटे रहते थे। फिर भी शरीर में कँप-कँपी छुटती थी, और दांतों की वीणा किट-किट करके बजती ही रहती थी। अधिक क्या, मारे सर्दी के लोगों को अपने घरों से बाहर निकलना मौत हो रहा था। इसी समय एक योगिराज, सुनसान वन में, नदी-तट पर ध्यान लगाये खड़े थे, और आत्मा से परमात्मा होने की प्रक्रिया साध रहे थे। योगिराज नंगे बदन थे। उनके पास कोई भी शीत-निवारक साधन नहीं था। कल-कल-निनादिनी नदी की ऊँची-नीची तरंगों पर झोले खाता हुआ हवा का तेज झोंका आता और योगिराज के कोमल, नहीं कठोर शरीर को छूकर सन-सनाता हुआ आगे चला जाता। योगिराज अपने आप में मस्त थे। उन्होंने शरीर को शरीर नहीं समझा हुआ था। अतएव प्रकृति देवी के ये संगठित उपद्रव, उन्हें अपने समक्ष नत-मस्तक करने में लाचार हो रहे थे।

ये योगिराज और कोई नहीं, हमारे चरित-नायक भगवान् महावीर ही थे। आपने अभी कुछ दिन पहिले ही राज्य-वैभव को ठुकराकर मुनि-वृत्ति धारण की थी। धर्म एवं

समाज के नाम पर होने वाले तत्कालीन भयङ्कर अत्याचारों ने, आपके जीवन में वह अपूर्व क्रान्ति की, जिसके कारण आप सर्वथा एकान्त निर्जन वनों में अत्यन्त उग्र तप कर रहे थे, और भारत में सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने के लिए उसके योग्य आत्म-शक्ति-संचय करने में लगे हुए थे। अब आपको एक छोटे-से परिवार के स्थान में बड़े परिवार की चिन्ता थी। अर्थात्—आपका पारिवारिक प्रेम अब अपने पितृ-वंश तक ही सीमित नहीं था, प्रत्युत बढ़ते-बढ़ते समग्र विश्व पर पहुँच चुका था। आपका यह तपःकालीन विश्व-हितेच्छु जीवन, मोह-माया-मत्त संसारी जीवों के समक्ष एक नवीन आदर्श रख रहा था—

"अहंता-ममता-त्यागः,
कर्तुं यदि न शक्यते।
अहंता-ममता-भावः,
सर्वत्रैव विधीयताम्।"

(३)

"महात्माजी! बताइए मेरी गायें कहाँ हैं? इस प्रकार चुप्पी साधने से तो काम नहीं बनेगा? मैं तो तुम्हें भले आदमी समझ कर ही गायें सौंप गया था। परन्तु तुम यह क्या कर रहे हो? कुछ थोड़ा-बहुत ईमान ठिकाने है, या सच-मुच हंस के वेष में बगुले ही हो?"

यह कर्कश शब्दावली उस ग्रामीण गवाले की है, जो इसी जङ्गल में गायें चरा रहा था, पर, किसी आवश्यक कार्य के लिए गाँव जाते समय गायों की देखभाल के लिए ध्यानस्थ भगवान् को कहकर एवं उनके मौन को ही स्वीकृति समझ कर, गाँव में चला गया था। अब यह काम करके लौटा है, किन्तु गायों को न पाकर उद्विग्न हो रहा है, एवं आवेश में आकर भगवान से कुछ कह रहा है।

गायों के सम्बन्ध में यह बात हुई कि भगवान् ध्यान में थे, अतः उन्होंने गायों की सँभाल अपने ऊपर न ली थी। गायें इधर-उधर घूमती-घामती बहुत दूर सघन जंगल में पहुँच गई थीं, और गवाले को बहुत-कुछ खोजने पर भी प्राप्त न हो सकी थीं।

गवाले की कर्कश ध्वनि से आस-पास के वन-निकुञ्ज ध्वनित हो उठे, किन्तु भगवान महावीर का हृदय अणुमात्र भी ध्वनित न हुआ। वे अपने आत्म-ध्यान में उसी प्रकार खड़े रहे, मानो, उन्होंने कुछ सुना ही न हो।

अतः ग्वाला फिर दुगुने आवेश से बोला—"अरे धूर्त ठग, बोलता है या मुझसे अपनी मरम्मत करवाना चाहता है? बच्चू, कुछ होश भी है, इस तरह की ठगी से मेरा माल हज़म नहीं हो सकेगा। निहंग, अगर इन्हीं हरामी मालों पर नीयत डूब रही थी, तो फिर साधु क्यों बना था? और न सही, कुछ भेष की लाज तो रखी होती। बस, भला आदमी है, तो मेरी गायें बतलादे। नहीं तो देखले, मैं अपने आपे पर आये पीछे कसाई हूँ, तेरी हड्डी-हड्डी बिखेर दूँगा।"

गवाले ने अपने पूरे बल के साथ तमाचों, घूसों, एवं लातों से प्रहार करने शुरू कर दिए। परन्तु भगवान महावीर पहले की भाँति ही मौन थे। उनके चन्द्र-सम सौम्य मुख-मण्डल पर मधुर हास्य की उज्ज्वल रेखाएँ प्रस्फुटित हो रही थीं। वे मन-ही-मन कह रहे थे—

"इसका कुछ भी दोष नहीं, यह है भ्रम-भूला।
करता है उपकार, मिले इसको सुख-झूला॥"

(४)

स्वर्ग लोक में रत्न-जटित स्वर्ण-सिंहासन पर देवराज इन्द्र बैठे हुए थे। सामने सभा लगी थी, सभी छोटे-बड़े देवी-देवता उपस्थित थे। सभा में चारों ओर से हर्ष-ध्वनियाँ हो रही थीं। सम्भवतः आज कोई स्वर्गीय नाटक होने वाला था।

एकाएक इन्द्र आश्चर्य, शोक एवं उद्विग्नता के साथ चौंक कर बोल उठे—'अरे यह क्या ! गवाले के छोकरे का इतना दुःसाहस ! ओह ! भगवान महावीर पर पशुओं की तरह मार !'

सभा में सन्नाटा छा गया। रङ्ग में भङ्ग पड़ गया। सब के सब देव चित्र-लिखित से हो गए। इन्द्र ने क्रोध-पूर्ण हुँकार के साथ वज्र उठाया और धनुर्मुक्त तीर की तरह सन-सनाता हुआ कुछ ही क्षण में घटना-स्थल पर अवतरित हुआ।

"अरे ओ ! दुरात्मन् नीच ! जरा अपने को संभाल। अब तुझे अपने किए कुकृत्य का फल मिलने वाला है। दुष्ट, तेरा इतना साहस !" इन्द्र ने बिजली के समान चुँधिया-देने वाले वज्र को जोर से घुमाते हुए सिंह-गर्जना से कहा। इन्द्र को देखते ही गवाले की आँखें पथरा गईं। वह औंधे मुँह धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ा। उसकी वेदना-पूर्ण करुण चीत्कार वायु-मण्डल में गूंज कर अनन्त अन्तरिक्ष में विलीन हो गई।

"देवराज ! सावधान, जरा धैर्य से काम लो। यह सर्वथा निरपराध है। इसे मारना संसार में सबसे बड़ा पाप है। यदि अपराधी भी है, तो वह मेरा है, न कि तुम्हारा। तुम व्यर्थ ही बीच में दण्ड देने वाले कौन होते हो ? मालूम होता है, भक्ति के आवेश में तुम्हारी बुद्धि भ्रान्त हो गई है। खबरदार, इसे मारा तो !" भगवान् ने मेघ के समान गम्भीर ध्वनि से ध्यान खोलते हुए कहा।

इन्द्र आश्चर्य से मुग्ध था। गवाला जीवन-आशा से हर्षित था। भगवान आदर्श करुणा-स्रोत से परिप्लुत थे। उनके सौम्य मुख-मण्डल पर अखण्ड तपस्तेज झलक रहा था। भगवान महावीर का वह आदर्श आज भी मूक संकेत कर रहा है—

'उपकारिषु यः साधुः,
साधुत्वे तस्य को गुणः ?

अपकारिषु यः साधुः
स साधुः सद्भिरुच्यते ॥

(५)

"प्रभो, आपकी आज्ञा है तो इसे छोड़े देता हूँ। परन्तु भविष्य बहुत अधिक सङ्कटमय दिखाई दे रहा है। पूरे बारह वर्ष तक आपको विपत्तियों की भयावह घाटियों में से गुजरना होगा। मनुष्यों तथा देवों द्वारा होने वाले घनघोर उपसर्ग स्मृति-मात्र से ही शरीर में कँप-कँपी छुटा रहे हैं। मेरा वज्र-कठोर हृदय तो, केवल आज की घटना से ही धक्-धक् कर रहा है, और अपने स्थान से विचलित-सा हो रहा है। अतएव भगवन्! आज्ञा दीजिए। यह सेवक, अब से बारह वर्ष के लिए, आप की चरण-सेवा में रहना चाहता है।" इन्द्र ने विनय-पूर्वक हाथ जोड़ते हुए प्रार्थना की।

"देवेन्द्र, विचार से काम लो। कुछ पता भी है, तुम कहाँ और किस के आगे बोल रहे हो? जिस सेवा के लिए तुम कहते हो, उसमें तो मेरी साधना का घोर अपमान अन्तर्निहित है। क्यों, तुम्हारी सेवा का यह मतलब हुआ न, कि मैं दुर्बल एवं असहाय हूँ। मैं अपनी साधना आप नहीं कर सकता। यदि वस्तुतः तुग यही समझ रहे हो, तो यह तुम्हारा अपना भ्रम है। तुम्हे याद रखना चाहिए कि आत्मा की प्रचण्ड शक्ति का कोई अन्त नहीं है। यदि मैं अपनी आत्म-शक्ति का परिचय देना चाहूँ, तो इन विरोधियों को एक बार ही ध्वस्त कर सकता हूँ। पर, मैं ऐसा करना नहीं चाहता। मुझे कष्ट में ही आनन्द है। कष्टों से घबरा कर वापिस लौटना तथा किसी सहायक के मुंह की ओर देखना, साधक-जीवन के सर्वथा विरुद्ध है। जिन्हें तुम शत्रु समझते हो, वे एक साधक के लिए आध्यात्मिक उत्थान के कारण हैं। तुम संसारी जीव हो, अतः तुम और हम भिन्न-भिन्न पथ के पथिक हैं। समझलो, अब मैं तुम-सा नहीं रहा। अब मैं कुछ और बनने जा रहा हूँ।"

भगवान् महावीर ने वाणी में आत्मिक बल का तेज भरते हुए दृढ़ता के साथ उत्तर दिया।

"भगवन्! आपका कहना सर्वथा सत्य है, परन्तु सेवक का हृदय तो नहीं मानता। भला कहीं ऐसा हो सकता है कि अपने आराध्य देव पर भीषण आक्रमण होते रहें और सेवक बिलकुल अलग-थलग खड़ा देखता रहे। धिक्कार है, ऐसे नाम-धारी सेवक को। प्रभो, यदि आपके कथन को ज्यों-का-त्यों महत्व दिया जाय, तो पृथ्वी पर से सेवा-धर्म ही लुप्त हो जाय। यह ठीक है, आप दुर्बल नहीं हैं। आप को किसी सहायक की अपेक्षा नहीं है। आप कष्ट में घबराना नहीं जानते। परन्तु हमारा भी तो कुछ कर्तव्य है। भगवन्! आप नहीं घबराते हैं, हम घबराते हैं। हम आपका कष्ट नहीं मिटाते, अपना मिटाते हैं। क्या आप हमें अपने निजी कष्ट मिटाने की भी आज्ञा न देंगे? स्वामी का कष्ट ही सेवक का कष्ट होता है—यह सिद्धान्त ध्यान में रखते हुए कृपया उत्तर दें।" इन्द्र ने फिर दुबारा प्रार्थना करते हुए कहा।

"इन्द्र! जरा गहराई से विचार करो, यह तो एक प्रकार की गुलामी हुई। किसी की गुलामीं में रहना मुझे क़तई पसन्द नहीं। अपने व्यक्तित्व पर भरोसा न रख कर, सर्वदा दूसरों से सहायता की इच्छा करते रहना, मेरी मति में सबसे बड़ी गुलामी है। गुलामी क्या, यों कहो कि जीते-जी ही घोर नरक है। मैं इस गुलामी के नरक से स्वयं छूटा हूं, और संसार को छुड़ाने जा रहा हूँ। देवराज! बता सकते हो, सिंह और गरुड़ के सहायक कौन होते हैं? क्या वे अकेले ही भयङ्कर निर्जन वनों में स्वतन्त्र विचरण नहीं किया करते हैं? शक्तिशाली कदापि झुण्ड बांध कर नहीं फिरते। हरिणों और कबूतरों के समान यदि तुमने सिंहों और गरुडों के कहीं झुण्ड देखे हों, तो बताओ। इन्द्र जानते हो मैं कौन हूँ? मैं जिन और अरिहन्त-पद की साधना में लगा हुआ एक साधक हूं! क्या ये पद

मुझे आज्ञा देते हैं कि मैं दीन एवं लाचार होकर उपसर्गों से अपने को बचाने के लिए, किसी दूसरे की सहायता की ओर देखूं ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। आज तक किसी भी आत्म-लक्षी साधक ने इन्द्र, राजा या और किसी की सहायता के द्वारा जिन एवं अरिहन्त-पद को नहीं पाया। ये पद तो अपने आप लिए जाते हैं, किसी के देने-दिलाने से नहीं। क्या तुम यह नया काम कर सकोगे ? हर्गिज नहीं। यह काम तुम्हारी शक्ति से वाहर है। समझ में नहीं आता, यह तुम बार-बार सेवा की वात क्या करते हो ? तुम्हारी सेवा का यही अर्थ है कि जिसकी तुम सेवा करो, वह अपंग एवं परमुखापेक्षी बन जाय ! यदि ऐसा ही है, तो यह भयङ्कर भूल है। सच्ची सेवा वही है, जिससे अपने वल-बूते पर स्वयं अपने पैरों खड़े रहना सिखाया जाय। तुम्हें अपने सेवा-धर्म की तो भूमण्डल से नष्ट होजाने की चिन्ता है, किन्तु मेरे स्वावलम्बन-धर्म की नहीं ? जैसा तुम्हें अपना सेवा-धर्म प्यारा है, वैसा ही मुझे अपना स्वावलम्बन प्यारा है। बतलाओ, मैं अपने स्वावलम्वन की रक्षा करूँ, या तुम्हारे सेवा-धर्म की ? अगर तुम्हें सेवा-धर्म पर ही विशेष आग्रह है, तो सेवा करो, कौन मना करता है ? संसार सेवा के लिए पुकार रहा है। देवराज ! दीन-दुखी प्राणियों की सेवा में ही मेरी सेवा समाविष्ट है। अपनी सेवा के लिए मैं कोई पृथक् स्थान नहीं रखता।" भगवान महावीर ने गम्भीरता एवं दृढ़ता के साथ फिर उत्तर दिया।

भगवान् महावीर के इस प्रभावशाली वक्तव्य को सुनकर इन्द्र आश्चर्य में रह गया। वह भक्ति से गद्‌गद् हृदय होकर प्रभु के चरणों में गिर पड़ा। उसने नम्र-भाव से क्षमा प्रार्थना की कि "भगवन् ! सेवक का अपराध क्षमा कीजिए। मैं अज्ञान में था, मैंने आपके असली स्वरूप को नहीं समझा था। प्रभो, अज्ञानकृत अपराध सदा क्षन्तव्य होता है।"